

विद्यालयीन भवानीय काला

१८५४

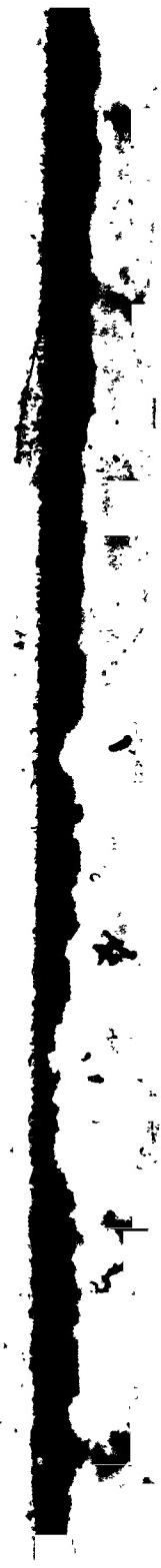
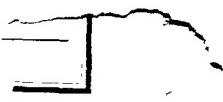
GOVERNMENT OF INDIA
DEPARTMENT OF ARCHAEOLOGY
**CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY**

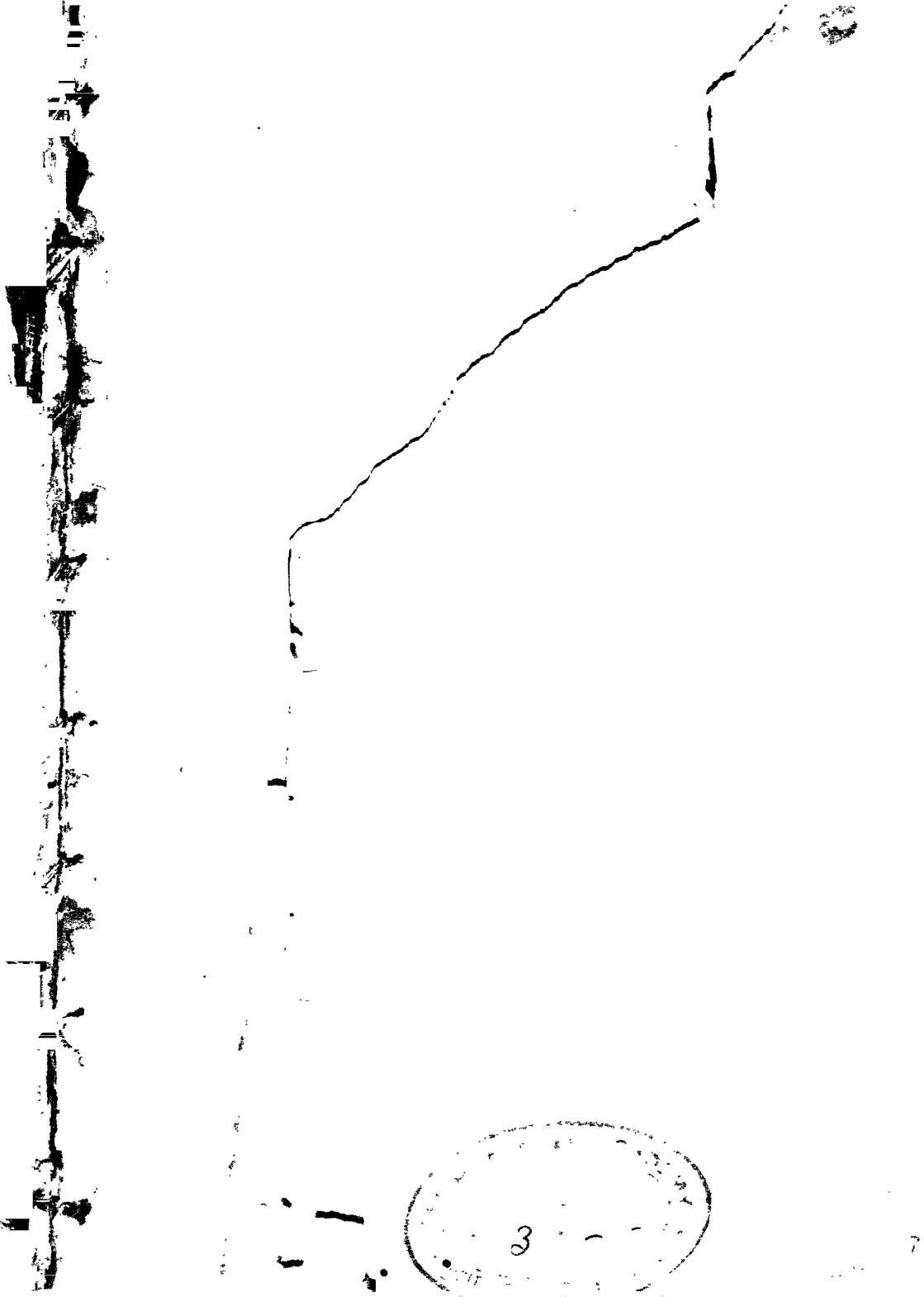
CLASS _____

CALL No. 901.0954 ejh

D G.A. 79.

1







मध्यकालीन भारतीय संस्कृति

[६०० ई०—१२०० ई०]



अर्थात्

संयुक्तप्रदेश की हिंदुस्तानी एकेडेमी की अवधानता
में प्रयाग में ता० १३, १४ सिंतबर १९२८
को दिए गए तीन व्याख्यान

व्याख्यानदाता

रायबहादुर महामहोपाध्याय गौरीशंकर
हीराचंद्र ओझा

१०।०२५। १९२८

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी, संयुक्त प्रदेश, प्रयाग

३३४
५२४

५३१

Published by
The Hindustani Academy,
U. P.
Allahabad.

PHOTOLOGICAL
ART. III.

25. 10. 1921
A. G. P. 1212

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

प्राक्तिक

संयुक्त प्रांत की सरकार ने हिंदी और उर्दू भाषाओं की उन्नति के लिये 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' की स्थापना कर प्रशंसनीय कार्य किया है। उक्त एकेडेमी ने मुफ्फे ६०० ई० से १२०० ई० तक अर्थात् राजपूत काल की भारतीय संस्कृति पर तीन व्याख्यान देने की आज्ञा देकर सम्मानित किया है, इसके लिये मैं समिति का अनुगृहीत हूँ। यह ६०० साल का काल भारतीय इतिहास में बहुत अधिक महत्व का है।

इस काल की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक अवस्था बहुत उन्नत थी। धार्मिक दृष्टि से तत्कालीन भारतवर्ष की दशा आश्चर्यकारक थी। बौद्ध, जैन और हिंदू धर्म तथा उनके अनेक धार्मिक संप्रदाय अपनी अपनी उन्नति कर रहे थे। अनेक संप्रदाय अस्त हुए और अनेकों का प्रादुर्भाव तथा विकास हुआ। इसी तरह कई दार्शनिक संप्रदायों का भी आविर्भाव और विकास हुआ। भिन्न भिन्न परस्पर विरुद्ध मतों का विकास या हास किस तरह हुआ यह ज्ञातव्य, रोचक तथा आश्चर्यकारक कथा है। इसी समय में प्रसिद्ध विद्वान् शंकराचार्य हुए, जिन्होंने दार्शनिक क्रांति कर दी। उनके अतिरिक्त रामानुज और मध्वाचार्य प्रभृति आचार्य भी हमारे समय में हुए।

ग्रीक, चत्रपें तथा कुशनों के राज्य समाप्त होने के बाद गुप्त वंश भी उन्नत होकर नामशेष हो चुका था। भारतवर्ष में भिन्न भिन्न वंश अपना राज्य फैला रहे थे। दक्षिण में सोलकी राजाओं का अधिक प्रभाव था। उत्तर में बैस (हर्ष), पाल, सेन आदि वंश भी

उन्नतिकर रहे थे। मुसलमान भी सिंध में आ चुके थे और ग्यारहवीं बारहवीं सदी में मुमलमानों का प्रवेश भारत में विशेष रूप से हो चुका था और कितने एक प्रांतों पर भी उनका अधिकार हो गया था। इस तरह भिन्न भिन्न राजवंशों के विकास और हास आदि अनेक राजनीतिक परिवर्तनों के कारण भी इस काल का महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

इन महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और धार्मिक परिवर्तनों के कारण तत्कालीन सामाजिक स्थिति में भी विशेष महत्त्व के परिवर्तन हुए। उस समय के विचार-प्रवाह, रीति रिवाज आदि में कम महत्त्व के परिवर्तन नहीं हुए। समाज का संगठन भी पहले से बदल गया। केवल सामाजिक स्थिति ही नहीं, किंतु उस समय की राजनीति पर भी उसका कम प्रभाव नहीं पड़ा। तत्कालीन शासनपद्धति एवं राजकीय संस्थाओं में भी कुछ परिवर्तन हुआ।

कृषि, व्यापार और व्यवसाय इन तीनों के उन्नत होने के कारण यह काल आर्थिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्व का था। यूरोप और एशिया के देशों के साथ भारतीय व्यापार बहुत बढ़ा हुआ था। भारतवर्ष केवल कृषिप्रधान देश ही नहीं बल्कि व्यवसाय-प्रधान देश भी था। वस्त्र-व्यवसाय के अतिरिक्त सोना, लोहा, काँच, हाथीदाँत इत्यादि के व्यवसाय भी बहुत उन्नत थे। भारतवर्ष अधिक संपन्न और ऐश्वर्यशाली था। भोजन और अन्य आवश्यक पदार्थ बहुत सस्ते थे जिससे किसी को भोजनादि की विशेष चिंता नहीं रहती थी।

उस समय का ज्ञानसंबंधी विकास भी कम नहीं था, जैसा कि आगे मालूम होगा। हमारे इस समय में काव्य, नाटक, कथाएँ आदि साहित्य-विषयक ग्रंथों के अतिरिक्त ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद तथा कलाकौशल में विशेष उन्नति हुई थी। इस तरह हम देखते हैं कि यह काल प्रायः सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। ऐसे घटना-

पूर्ण और महत्त्वशाली विषय पर विस्तार से लिखने के लिये पर्याप्त समय, पर्याप्त अध्यवसाय और प्रचुर सामग्री की आवश्यकता है। परंतु इस गुरुतर कार्य को सुचारू रूप से संपादन करने की योग्यता मुझमें नहीं है। मैं चाहता था कि यह कार्य किसी यांग्यतर विद्वान् को सौंपा जाता। मुझे खेद है कि मेरा स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण मैं इसमें यथेष्ट समय एवं सहयोग न दे सका।

इस विषय को मैंने तीन भागों में विभक्त किया है। पहले भाग या व्याख्यान में तत्कालीन धर्मो—बौद्ध, जैन तथा हिंदू—के भिन्न भिन्न संप्रदायों के विकास और हास तथा उस समय की सामाजिक स्थिति, वर्णाश्रम-व्यवस्था, दासप्रथा, रहन सहन, रीति रिवाज आदि पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग में भारतीय साहित्य, अर्थात् कोष, व्याकरण, दर्शन, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, राजनीति, अर्थशास्त्र, शिल्प, संगीत, चित्रकला आदि विषयों की तत्कालीन स्थिति पर विचार किया गया है। तीसरे भाग में उस समय की शासन-पद्धति, ग्राम-पंचायतीं का निर्माण और उनके अधिकार, संनिक व्यवस्था तथा न्यायादि पर प्रकाश डालते हुए उस दीर्घ काल में होने-वाले परिवर्तनों का संक्षेप से उल्लेख कर उस समय की आर्थिक स्थिति—कृषि, व्यापार, व्यवसाय, व्यापार-मार्ग, आर्थिक समृद्धि आदि—पर भी कुछ विचार किया गया है। ऊपर लिखे हुए विषयों में से प्रायः प्रत्येक विषय इतना गंभीर और विस्तृत है कि उन पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। केवल तीन व्याख्यानों में इन सबका समावेश संक्षिप्त रूप में ही हो सकता है।

इस समय की संस्कृति पर प्रकाश डालने के लिये, जो सामग्री मिलती है, वह बहुत नहीं है। विशुद्ध इतिहास के ग्रंथ, जिनमें तत्कालीन संस्कृति का स्पष्ट उल्लेख हो, वहुत थोड़ी संख्या में मिलते हैं। नहीं कहा जा सकता कि कितने ऐसे ग्रंथ लिखे गए हैं और

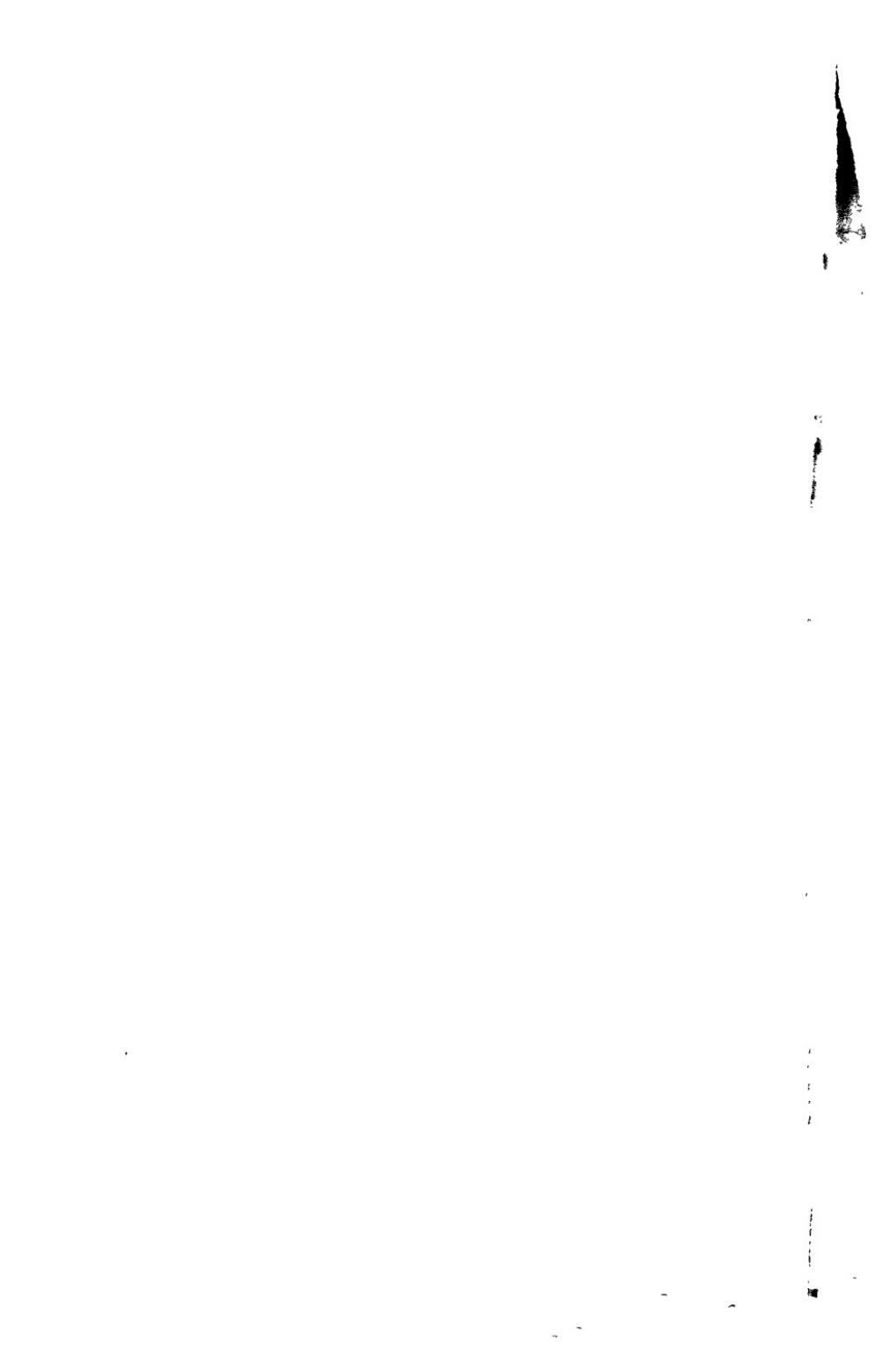
वे काल-प्रवाह के चक्र में पड़कर नष्ट हो गए हैं। फिर भी हमें इस समय पर विचार करने के लिये भिन्न भिन्न ग्रंथों से सहायता मिल सकती है। इस सामग्री का संक्षेप सं हम यहाँ निर्देश करते हैं।

सबसे पुर्व चीनी यात्री हुएन्ट्संग और इतिसंग के यात्रा-वर्णनों से उस समय की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। चीनी यात्रियों के अतिरिक्त अल्मसूदी और अल्बेरुनी आदि अरब के भारत-विषयक ग्रंथ भी विशेष महत्व के हैं। उस समय संस्कृत, प्राकृत या द्रविड़ भाषाओं के काव्य, नाटक, कथाओं और पुराण आदि से भी तत्कालीन सामाजिक सभ्यता के संबंध में काफी वातें मालूम होती हैं। प्राचीन शोध से उपलब्ध तात्रपत्रों, शिलालेखों, सिक्कों और मुद्राओं से भी कम सहायता नहीं मिलती। याज्ञवल्क्य, हारीत, विष्णु प्रभृति स्मृतियों तथा विज्ञानेश्वर-कृत याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका मितान्नर से तत्कालीन सब प्रकार की स्थिति पर बहुत प्रकाश पड़ सकता है।

इस प्राचीन सामग्री के अतिरिक्त नवीन लेखकों की भी कई पुस्तकों से बहुत सहायता ली गई है। इनमें से रमेशचन्द्र दत्त-रचित 'ए हिस्ट्री आफ सिविलिजेशन इन एंश्यंट इंडिया', सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर-कृत 'वैष्णविज्म शैविज्म एंड अदर माइनर रिलीज़स सिस्टम,' विनयकुमार सरकार-निर्मित 'दि पोलिटिकल इंस्टीट्यूशंस एंड थ्योरीज आफ दि हिंदूज', राधाकुमुद मुकर्जी का 'हर्ष', कें एम० पनिकर का 'श्रीहर्ष आफ कनोज', चि० वि० वैद्य-कृत 'हिस्ट्री आफ मिडिएवल इंडिया', ए० मैकडानल-कृत 'इंडियाज पास्ट', नरेन्द्रनाथ ला-कृत 'स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर', हर-विलास सारङ्गा रचित 'हिंदू सुपारियारिटी', जान प्रिफिथ-रचित 'दी पेटिंग्स आफ एजंटा', लेडी हैरिंगहम-कृत 'अजंटा फ्रिस्कोज', एन० सी० मेहता की 'स्टडीज इन इंडियन पेटिंग', 'इंपोरियल गेजेटियर

आफ इंडिया', प्रो० मैकडानल और कीय-कृत 'वैदिक इंडैक्स' और आफेक्ट का 'कैटेलागस् कैटेलागरम', इलियड की 'हिस्ट्री आफ इंडिया', मेरी बनाई हुई 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला', 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास', 'राजपूताने का इतिहास' तथा 'नागरीप्रवारणी पत्रिका' और 'इंडियन एंटिकवेरी', 'एपिप्राफिया इंडिका' आदि पत्रिकाएँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

हिंदुस्तानी एकेडेमी को एक बार फिर धन्यवाद देते हुए मैं अब प्रस्तुत विषय पर अपने विचार आरंभ करता हूँ।



विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
प्रथम व्याख्यान—धर्म और समाज		१—७०
बौद्ध धर्म की उत्पत्ति और उसका प्रचार	...	३
बौद्ध धर्म के सिद्धांत	...	४
बौद्ध धर्म की अवनति	...	५
बौद्ध धर्म पर हिंदू धर्म का प्रभाव और महायान संप्रदाय की उत्पत्ति	...	६
बौद्ध धर्म के पतन का कारण	...	७
बौद्ध धर्म के पतन का ऐतिहासिक घटनाक्रम	...	८
जैन धर्म का उत्पत्ति और उस समय का हिंदू धर्म	...	९
जैन धर्म के मुख्य सिद्धांत	...	१०
बौद्ध और जैन धर्म का पार्थक्य	...	१२
जैन धर्म के संप्रदाय	...	१२
जैन धर्म का अधिक प्रचार न होने के कारण	...	१२
जैन धर्म की उत्तराति और अवनति	...	१३
प्राचीन ब्राह्मण धर्म	...	१५
ब्राह्मण धर्म में मूर्तिपूजा का प्रचार	...	१६
बैष्णव संप्रदाय का उद्भव	...	१६
बैष्णव धर्म के सिद्धांत और उसका प्रचार	...	१७
रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत संप्रदाय	...	१८
मध्वाचार्य और उनका संप्रदाय	...	१९
विष्णु की मूर्ति	...	२०

विषय		पृष्ठ
<u>शैव संप्रदाय</u>	...	२१
शैव संप्रदाय की भिन्न भिन्न शाखाएँ और उनके सिद्धांत	...	२२
दक्षिण में शैव संप्रदाय का प्रचार	...	२५
ब्रह्म की मूर्ति	...	२६
त्रिदेव-पूजा	...	२६
शक्ति-पूजा	...	२७
कौलमत	...	२७
गणेश-पूजा	...	२८
स्कंद-पूजा	...	२८
सूर्य-पूजा	...	२८
अन्य देवताओं की मूर्तियाँ	...	३२
हिंदू धर्म के सामान्य अंग	...	३३
कुमारिल भट्ट और उसके सिद्धांत	...	३४
शंकराचार्य और उनके सिद्धांत	...	३५
<u>भारत में इस्लाम का प्रवेश</u>	...	३८
वर्ण-व्यवस्था	...	४०
ब्राह्मण और उनके कर्तव्य	...	४०
ब्राह्मणों की उपजातियाँ	...	४२
ज्ञात्रिय और उनके कर्तव्य	...	४४
वैश्य और उनका कर्तव्य	...	४६
शूद्र	...	४६
कायस्थ	...	४७
अंत्यज	...	४८
वर्णों का परस्पर संबंध	...	४८
ब्रूतक्रान्त	...	५०

विषय				पृष्ठ
भारतीयों का भौतिक जीवन	५०
बद्ध	५२
आभूपण	५५
भाजन	५७
दास-प्रधा	५८
बहम	६१
चरित्र	६२
खो-शिक्षा	६४
पर्दा	६६
विवाह	६७
सती प्रथा	६८
द्वितीय व्याख्यान—साहित्य				७१—१४८
संस्कृत साहित्य के विकास की प्रगति	७४
तत्कालीन साहित्य के कुछ उत्कृष्ट काव्य	७५
सुभाषित संग्रह	७८
गद्य काव्य	७९
चंपू	८१
नाटक	८१
ध्वनि, अलंकार आदि साहित्य के अंग	८३
तत्कालीन काव्य साहित्य का सिहावलोकन	८४
व्याकरण	८५
कोष	८६
दर्शन	८७
न्यायदर्शन	८८
वैशेषिक दर्शन	९०

विषय				पृष्ठ
सांख्य	८२
योग	८२
पूर्व मीमांसा	८३
उत्तर मीमांसा	८५
शंकराचार्य और उनका अद्वैतवाद	८५
रामानुज और उनका विशिष्टाद्वैत	८७
मध्वाचार्य और उनका द्वैतवाद	८८
चारवाक	८८
बैद्ध-दर्शन	८८
जैन-दर्शन	८८
तत्कालीन दार्शनिक उन्नति का सिंहावलोकन	१००
यूरोपीय दर्शन पर भारतीय दर्शन का प्रभाव	१००
ज्योतिष शास्त्र की पूर्वकालीन उन्नति	१०२
६०० ई०—१२०० ई० तक का ज्योतिष साहित्य	१०४
फलित ज्योतिष	१०६
भारतीय गणित शास्त्र	१०७
अंक-क्रम का विकास	१०८
अंकगणित	११५
बीजगणित	११५
रेखागणित	११६
त्रिकोणमिति	११७
आयुर्वेद का साहित्य	११८
शास्त्रविद्या का विकास	१२०
सर्प-विद्या	१२२
पशु-चिकित्सा	१२२

विषय					पृष्ठ
पशु-विज्ञान	१२३
चिकित्सालय	१२५
भारतीय आयुर्वेद का यूरोपीय चिकित्सा पर प्रभाव					१२५
कामशास्त्र	१२७
संगीत साहित्य	१२८
नृत्य	१२९
राजनीति	१३०
कानूनी साहित्य	१३१
अर्थशास्त्र	१३२
प्राकृत साहित्य का विकाश					१३४
मार्गधी	१३५
शौरसेनी	१३५
महाराष्ट्री	१३६
पैशाची	१३६
आवंतिक	१३६
अपभ्रंश	१३७
प्राकृत व्याकरण	१३८
प्राकृत-कोष	१३९
तामिळ	१४०
कनड़ी	१४१
तेलगू	१४१
शिक्षा	१४२
नालंद विश्वविद्यालय	१४२
तन्त्रशिला विश्वविद्यालय	१४४
शिक्षा का क्रम	१४५

विषय				पृष्ठ
तृतीय व्याख्यान—शासन, शिल्प और कला				१४९-१९२
शासन-पद्धति	१५१
राजा के कर्तव्य	१५२
धार्म-संस्था	१५३
दंड	१५४
खिंचाँ की राजनीतिक स्थिति	१५५
शासन-प्रबंध	१५६
आय-न्यय	१५७
सार्वजनिक कार्य	१५८
सैनिक-प्रबंध	१५९
राजनीतिक स्थिति तथा शासन-पद्धति में परिवर्तन				१६०
आर्थिक स्थिति	१६१
कृषि और सिंचाई का प्रबंध	१६२
व्यापारिक नगर	१६३
व्यापार के जल-मार्ग	१६४
व्यापार के स्थलमार्ग	१६५
भारतीय व्यापार	१६६
मेले	१६७
व्यवसाय	१६८
लोहा आदि धातुओं का व्यवसाय	१६९
काँच आदि का व्यवसाय	१७०
गणसंस्था	१७१
सिक्के	१७२
भारत की आर्थिक स्थिति	१७३
स्तूप	१७४

विषय					पृष्ठ
गुफाएँ	१७४
मंदिर	१७५
स्तंभ	१७६
मूर्तियाँ	१७८
वास्तु विद्या की उन्नति	१८१
वैज्ञानिक उन्नति	१८२
गुफाओं के चित्र	१८३
भारतीय शिल्पकला का अन्य देशों में प्रभाव	...				१८०
भारतीय चित्रकला की विशेषता	१८०
संगीत	१८१



चित्रों की सूची

पृष्ठ

(१) हिंदुओं का बुद्धावतार (राजपूताना म्यूजियम्)	७
(२) शेषशायी विष्णु (त्रिवेंद्रम्)	१६
(३) विष्णु की चौदह हाथवाली मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्)	२०
(४) विष्णु की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्)	२१
(५) शिव की त्रिमूर्ति (धारापुरी)	२१
(६) लकुलीश की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्)	२२
(७) ब्रह्मा, विष्णु और शिव की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्)	२६
(८) लक्ष्मीनारायण की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्)	२६
(९) अर्धनारीश्वर की मूर्ति (मदुरा)	२६
(१०) ब्रह्माण्डी की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्)	२७
(११) सूर्य की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्)	३०
(१२) यम की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्)	३२
(१३) नव ग्रहों में शुक्र, शनैश्चर, राहु और केतु की मूर्तियाँ (राजपूताना म्यूजियम्)	३२
(१४) छोटे की अङ्गिया पहनी हुई लड़ी का चित्र (अजंटा की गुफा)	५४
(१५) भूषणादि से अलंकृत लड़ी का सिर (राजपूताना म्यूजियम्)	५५
(१६) लड़ी के सिर का केशविन्यास (राजपूताना म्यूजियम्)	५५

	पृष्ठ
(१७) शिव का तांडव नृत्य (मद्रास म्यूजियम्)	१३०
(१८) इलोरा का पर्वतीय कैलास मंदिर १७४
(१९) द्रविड़ शैली के मंदिर का धर्मराज रथ (मामल्लपुरम्)	१७५
(२०) द्रविड़ शैली का हिंदू मंदिर (तंजोर)	१७६
(२१) होयसलेश्वर के मंदिर का बाहरी पाश्वर्ण (हलेबिड़)	१७७
(२२) आर्य शैली का हिंदू मंदिर (खजराहो)	१७८
(२३) आबू के जैन मंदिर का गुंबज और द्वार	... १७९
(२४) बड़नगर (गुजरात) के मंदिर का तोरण	... १८०

प्रथम व्याख्यान

धर्म और समाज



प्रथम व्याख्यान

धर्म और समाज बौद्धधर्म

इसवी सन् ६०० से लगाकर १२०० तक भारतवर्ष में तीन धर्म—वैदिक, बौद्ध और जैन—मुख्यतः पाए जाते हैं। सातवीं सदी के प्रारंभ-काल में यद्यपि बौद्ध धर्म की अवनति हो रही थी तो भी उसका प्रभाव बहुत कुछ था, जैसा कि हुएन्संग के यात्रा-विवरण से जान पड़ता है, अतएव हम बौद्ध धर्म का विवेचन पहले करते हैं।

भारतवर्ष का प्राचीन धर्म वैदिक था, जिसमें यज्ञ यागादि को प्रधानता थी और बड़े बड़े यज्ञों में पशुहिंसा भी होती थी। मांस-

भक्त्यां का प्रचार भी बड़ा हुआ था। जैनों बौद्ध धर्म की उत्पत्ति और बौद्धों के जीव-दया-संवर्धी सिद्धांत पहले और उसका प्रचार से ही विद्यमान थे, परंतु उनका लोगों पर विशेष प्रभाव न था। शाक्य-वंशी राजकुमार गौतम (महात्मा बुद्ध) ने बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ाने का बीड़ा उठाया और उनके उपदेश से अनेक लोग बौद्ध धर्म प्रहण करने लगे, जिनमें बहुत से राजा, राजवंशी, ब्राह्मण, वैश्य आदि भी थे। दिन दिन इस धर्म का प्रचार बढ़ता गया और मौर्यवंशी सम्राट् अशोक ने उसे राजधर्म

बनाकर अपनी आङ्गा से यज्ञादि में पशु-हिंसा की रोक टोक की* । अशोक के प्रयत्न से बौद्ध धर्म का प्रचार केवल भारतवर्ष तक ही परिमित न रहा, बल्कि भारत के बाहर लंका तथा उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में उसका प्रचार और भी बढ़ गया । फिर बौद्ध श्रमणों (साधुओं) और भिन्नुओं के श्रम से शनैःशनैः उसका प्रचार तिव्वत, चीन, मंचूरिया, मंगोलिया, जापान, कोरिया, स्थाम, बर्मा और सायर्बारिया के किरणिस और कलमुक आदि तक फैल गया ।

यहाँ बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का संचित विवेचन करना अप्रासंगिक न होगा । बौद्ध धर्म के अनुसार जीवन दुःखमय है, जीवन बौद्ध धर्म के सिद्धान्त और उसके सुखों की लालसा दुःखमूलक है, उस लालसा के नष्ट हो जाने से दुःख का नाश हो जाता है और पवित्र जीवन से यह लालसा नष्ट हो जाती है ।

महात्मा बुद्ध के शब्दों में बौद्ध मत मध्यम पथ है, अर्थात् न तो भोग-विलास में ही आसक्त रहना चाहिए और न अनिद्रा, अनाहार, तपस्या आदि कठोर कष्ट साधनाओं के द्वारा आत्मा को क्लेश देना चाहिए । इन दोनों मार्गों के बीच में रहकर चलना चाहिए । संसार और उसके सब पदार्थ अनित्य और दुःखमय हैं । सब दुःखों का मूल कारण अविद्या है । आत्मनिरोध के द्वारा ही आत्मा की उन्नति हो सकती है । काम अथवा रुष्णा का सब प्रकार परित्याग करने से दुःख का निरोध होता है । इस रुष्णा के नाश ही का नाम निर्वाण है । यह निर्वाण जीवित अवस्था में भी प्राप्त हो सकता है । मनुष्य पंच स्कंधों का बना हुआ विशेष प्रकार का एक संघ है, जिसमें विज्ञान-स्कंध की मुख्यता है । विज्ञान-स्कंध को ही हम अपनी परिभाषा में आत्मा का स्थान दे सकते हैं । यही पंच स्कंधों का संघ कर्मों के अनुसार भिन्न भिन्न रूपों में शरीर

* अशोक की धर्मलिपिर्याः; अशोक का पहला शिलालेख ।

धारण करता है। इसी का नाम पुनर्जन्म है। विशेष साधनों के अनुष्ठान से इन संघों का अपने मौलिक तत्त्वों में अंतर्भाव होना ही महानिर्वाण है। बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी विशेषता 'अहिंसा परमो धर्मः' है। किसी भी प्रकार की हिंसा करना बड़ा भारी पाप है, परंतु पीछे से भारतवर्ष के बाहर के बौद्धों ने इस मुख्य सिद्धांत की ओर यथोचित ध्यान न दिया। शील, समाधि और प्रजायज्ञ ही उत्कृष्ट यज्ञ हैं। बौद्ध धर्म की दूसरी विशेषता यह है कि वह ईश्वर के विषय में उदासीन है। ईश्वरोपासना के बिना भी उसके अनुसार मुक्ति या निर्वाण पाया जा सकता है। तीसरी विशेषता यह है कि वह हिंदू धर्म के प्रधानभूत ऋग वर्णश्रीम को नहीं मानता। उसकी हृषि में सब—त्राहण और शूद्र—समान रीति से सर्वोच्च स्थान पा सकते हैं। जन्म से नहीं किंतु कर्म से भी मनुष्य की प्रतिष्ठा की जानी चाहिए। बौद्धों के विरल—वुद्ध, संघ और धर्म—माने जाते थे।

अनेक राजाओं की ओर से संरक्षण पाकर यह धर्म बहुत बढ़ा। समय समय पर बौद्ध भिन्नत्रों में मत-भेद होते रहने से बौद्धधर्म में भिन्न भिन्न संप्रदाय उत्पन्न हुए। इन भेदों बौद्ध धर्म की अवनति को दूर करने के लिये बौद्ध भिन्नत्रों की महासभाएँ भी समय समय पर होती रहीं, परंतु ज्यां ज्यां समय बीतता गया त्यां त्यां मतभेद भी बढ़ते गए। चीनी यात्री इत्सिंग के समय में बौद्ध धर्म के १८ भेद हो चुके थे। पीछे से राज्य का सहारा ढूट जाने के कारण बहुत शीघ्रता से बौद्ध धर्म की अवनति होने लगी और हिंदू धर्म बहुत तेजी से उन्नति-पथ पर अग्रसर होने लगा, क्योंकि उसे राज्य की भी पर्याप्त सहायता मिल रही थी।

उन्नतिशील हिंदू धर्म का प्रभाव बौद्ध धर्म पर बहुत पड़ा। बहुत से बौद्ध भिन्नत्रों ने हिंदू धर्म की कई विशेषताओं को ग्रहण कर लिया।

इसका परिणाम 'महायान' मत के रूप में कुशनवंशी राजा कनिष्ठ के समय में प्रकट हुआ ; प्रारंभिक बौद्ध धर्म संन्यास-मार्ग-प्रधान था ।

इसके अनुसार ज्ञान और चार आर्य सत्यों की बौद्ध धर्म पर हिंदू भावना से निर्वाण पाया जा सकता है । बौद्ध धर्म का प्रभाव और महाधर्म में ईश्वर की सत्ता नहीं मानी गई थी । यान संप्रदाय की उत्पत्ति इसलिये बुद्ध की उपस्थिति में भक्ति के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का उपदेश नहीं दिया जा सकता था । महात्मा बुद्ध के पीछे बौद्ध भिज्ञुओं ने देखा कि सब लोग गृहस्थी छोड़कर भिज्ञु नहीं बन सकते और न शुष्क तथा निरीश्वर संन्यास मार्ग उनकी समझ में आ सकता है । इसलिये उन्होंने भक्ति-मार्ग का सहारा लिया । स्वयं बुद्ध को उपास्य देव मानकर उनकी भक्ति करने का प्रतिपादन किया गया और बुद्ध की मूर्तियाँ बनने लगीं । फिर २४ अतीत बुद्ध, २४ वर्तमान बुद्ध और २४ भावी बुद्धों की कल्पना की गई । इतना ही नहीं, वेदिकसत्तों और अनेक तान्त्रिक देवियों आदि की भी कल्पना की गई और इन सबकी मूर्तियाँ बनने लगीं । बौद्ध भिज्ञुओं ने गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी भक्तिमार्ग द्वारा निर्वाण पद की प्राप्ति को संभव बताया । इस भक्ति-मार्ग—महायान—पर हिंदू धर्म या भगवद्वीता का बहुत प्रभाव पड़ा । इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(१) हीन्यान संप्रदाय के ग्रंथ पाली में और महायान संप्रदाय के ग्रंथ संस्कृत में हैं ।

(२) महायान मार्ग में भक्ति-मार्ग की प्रधानता है ।

(३) हीन्यान संप्रदाय में महात्मा बुद्ध देवता के रूप में पूजे नहीं जाते थे, परंतु महायान में देवता मानकर बुद्ध की पूजा होने लगी ।

भारत में इस महायान संप्रदाय का प्रचार बहुत बढ़ता गया, इतना ही नहीं, बौद्ध दर्शन पर भी हिंदू दर्शन का प्रभाव बहुत पड़ा । नह होता हुआ बौद्ध धर्म, हिंदू धर्म पर भी गहरा प्रभाव ढाले बिना

•

• •



(१) हिंदुओं का बुद्धावतार
[राजपूताना म्यूजियम्, अजमेर]

(७)

न रहा । हिंदुओं ने बौद्ध को भी विष्णु का नवाँ अवतार मानकर बौद्ध जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया । देनों और धर्मों में इतनी समानता बढ़ गई कि बौद्ध और हिंदू धर्म के पतन के कारण हिंदू दंतकथाओं में भेद करना कठिन हो गया ।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि लोग बौद्ध धर्म को छोड़कर हिंदू धर्म का; जिसमें सब प्रकार की स्वतंत्रताएँ थीं, आश्रय लेने लगे । बौद्ध धर्म का अहिंसावाद यद्यपि मनो-मोहक था, परंतु कियात्मक नहीं रह गया था । राजाओं को युद्ध करने पड़ते थे, साधारण जनता भी मांसाहार छोड़ना पसंद नहीं करती थी । हिंदू धर्म में ये रुकावटें न थीं और फिर ब्राह्मणों द्वारा बुद्धदेव विष्णु के अवतार मान लिए जाने पर बहुत से बुद्ध-भक्तों की रुचि भी हिंदू धर्म की ओर बढ़ने लगी । अत्यंत प्राचीन काल से ईश्वर पर विश्वास रखती हुई आर्य जाति का चिरकाल तक अनीश्वरवाद को मानना बहुत कठिन था । इसी तरह बौद्धों का वेदों पर अविश्वास हिंदुओं को बहुत खटकता था । कुमारिल तथा अन्य ब्राह्मणों ने बौद्धों के इन देनों सिद्धांतों का जोरों से स्वंछन आरंभ किया । उनका यह आदोलन बहुत प्रबल था और इसका परिणाम भी बहुत व्यापक हुआ । कुमारिल के बाद ही शंकराचार्य के आ जाने से इस आदोलन ने और भी जोर पकड़ा । शंकरदिग्विजय में कुमारिल के द्वारा शंकर को निम्नलिखित श्लोक कहलाया गया है । इससे शंकर के आदोलन की व्यापकता का पता लगता है—

भृत्यर्थधर्मविमुखान् सुगतान् निहन्तुं

जातं गुहं भुवि भवं तमहं तु जाने ॥

अर्थात् वेदार्थ से विमुख बौद्धों को नष्ट करने के लिये आप गुह (कार्त्तिकेय) रूप से उत्पन्न हुए हैं ऐसा मैं मानता हूँ ।

इसी तरह दूसरे स्थानीय ब्राह्मणों ने भी हिंदू धर्म के प्रचार में बहुत सहायता दी। जहाँ हिंदू धर्म को राजधर्म बनाने से बौद्ध धर्म की चक्षि हुई वहाँ स्वयं बौद्ध धर्म में भी बहुत सी त्रुटियाँ आ गई थीं; उसके बहुत से संप्रदायों में विभक्त होने का उल्लेख पहले किया जा चुका है, छोटी छोटी बातों के कारण मत-भेद पैदा हो रहे थे। इसके अतिरिक्त बौद्ध भिन्नुओं में बाह्य आडंबर की अधिकता हो जाने के कारण भी जनता की उनपर से श्रद्धा उठती गई। अब बौद्ध भिन्नु वैसे सदाचारी और महात्मा न रहे थे। उनमें भी अधिकार-लिप्सा, धन-लिप्सा आदि दोष आ गए थे। वे मठों और विहारों में आराम से रहने लगे थे। उन्हें जनता के सुख-दुःखों का अधिक ध्यान न रहा था। इन सब बातों का बौद्ध धर्म पर बहुत घातक परिणाम हुआ। बौद्ध धर्म राज्य की सहायता न पाने तथा अन्य उपर्युक्त बातों से, उसका पतन हुआ।

मौर्यवंश के अंतिम राजा वृहद्रथ के देहांत के साथ ही बौद्ध धर्म की अवनति का प्रारंभ हो चुका था। वृहद्रथ को मारकर उसका

बौद्ध धर्म के पतन का शुंगवंशी सेनापति पुष्यमित्र मौर्य-साम्राज्य का ऐतिहासिक घटनाक्रम स्वामी बन गया। उसने फिर वैदिक धर्म का

पत्त प्रहण कर दो अश्वमेघ यज्ञ किए। संभवतः उसने बौद्धों पर अत्याचार भी किया, ऐसा बौद्ध धर्म से पाया जाता है। वस्तुतः यहाँ से बौद्ध धर्म की अवनति प्रारंभ होती है। उसी काल में राजपृताने में मध्यमिका (नगरी) के राजा पाराशरीपुत्र सर्वतात ने भी अश्वमेघ यज्ञ किया। ऐसे ही दक्षिण में आधि (सातवाहन) वंशी वैदिकी शातकरी के समय में अश्वमेघ, राजसूय, दशरात्र आदि यज्ञ हुए। इसी तरह शुंगवंशी समुद्रगुप्त और वाकाटकवंशियों के समय में भी अश्वमेघ आदि कई यज्ञ हुए, जैसा कि उनके समय के शिलालेखादि से पाया जाता है। इस

(६)

प्रकार मौर्य-साम्राज्य के अंत से वैदिक धर्म की उन्नति के साथ साथ बौद्ध धर्म का हास होने लगा । फिर वह क्रमशः अवनत होता ही गया । हुएन्तर्संग के यात्रा-विवरण से पाया जाता है कि उसके समय अर्थात् सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वैदिकधर्मवलंबियों की संख्या बढ़ने और बौद्धों की घटने लगी थी । बाणभट्ट के कथन से पाया जाता है कि शानेश्वर के वैसवंशी राजा प्रभाकरवर्द्धन के ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन ने अपने पिता का देहांत होने पर राज्यसुख को छोड़कर भट्ट (बौद्ध भिज्जुक) होने की इच्छा प्रकट की थी और ऐसा ही विचार उसके छोटे भाई हर्ष का भी था, जो कई कारणों से फलीभूत न हो सका । हर्ष भी बौद्ध धर्म की ओर बड़ी रुचि रखता था । इन वातां से निश्चित है कि सातवीं शताब्दी में राजवंशियों में भी, वैदिक धर्म के अनुयायी होने पर भी, बौद्ध धर्म की ओर सद्भाव अवश्य था । वि० सं० ८४७ (ई० सं० ७६०) के शेरगढ़ (कोटा राज्य) के शिलालेख से पाया जाता है कि नागवंशी देवदत्त ने कोशवर्द्धन पर्वत के पूर्व में एक बौद्ध मंदिर और मठ बनवाया था, जिससे अनुमान होता है कि वह बौद्ध धर्म-वलंवी था । ई० सन की वारहवीं शताब्दी के अंत तक मगध और बंगाल को छोड़कर भारतवर्ष के प्रायः सभी विभागों में बौद्ध धर्म नष्टप्राय हो चुका था और वैदिक धर्म ने उसका स्थान ले लिया था ।

जैन धर्म

जैन धर्म भी बौद्ध धर्म से कुछ पूर्व भारतवर्ष में प्रादुर्भूत हुआ । महावीर का निर्वाण गौतम बुद्ध से पूर्व हो चुका था । उस समय के

वैदिक धर्म के मुख्य सिद्धांत ये थे ।

जैन धर्म की उत्पत्ति
और उस समय का १-वेद ईश्वरीय ज्ञान है ।
हिंदू धर्म २-वैदिक देवताओं-इन्द्र, वरुण आदि-की पूजा ।

(१०)

३—यद्वाँ में पशुहिंसा ।

४—वर्णव्यवस्था ।

५—आश्रमव्यवस्था ।

६—आत्मा और परमात्मा का सिद्धांत ।

७—कर्मफल और पुनर्जन्म का सिद्धांत ।

महावीर तथा बुद्ध ने उपर्युक्त पहले पाँच सिद्धांतों को अस्वीकार किया । महावीर ने केवल दो आश्रम—बानप्रस्थ और संन्यास—माने, जब कि बुद्ध ने केवल संन्यासाश्रम पर ही जोर दिया । परमात्मा को महावीर ने स्वीकार न किया और बुद्ध ने भी इस पर कोई विचार न किया । बौद्ध धर्म के विषय में हम ऊपर लिख आए हैं इसलिये यहाँ केवल जैन धर्म और उसकी प्रगति पर कुछ प्रकाश डालने का यत्न करेंगे ।

जैनों के कथनानुसार महावीर २४वें तीर्थकर थे । उनसे पूर्व २३ तीर्थकर हो चुके थे । संभवतः यह कल्पना बौद्धों के २४ बुद्धों की कल्पना का अनुकरण हो, अथवा बौद्धों ने जैनों से यह ली हो । महावीर राजा सिद्धार्थ चत्रिय के पुत्र वैशाली में उत्पन्न हुए; उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली और बारह वर्ष तक छङ्गवेश में रहकर कठिन तपस्या की । उसके बाद उन्होंने अपने मत का प्रचार आरंभ किया और ७२ वर्ष की अवस्था में उनका निर्वाण हुआ ।

जैन धर्म के मुख्य सिद्धांत ये हैं— जैन धर्मावलंबी जीव, अजीव, आश्रव (मन, वचन और शरीर का व्यापार एवं शुभाशुभ के वंध जैन धर्म के मुख्य सिद्धांत का हेतु), संवर (आश्रव का रोकनेवाला), वंध, निर्जरा (वंधकर्मों का न्यय), मोक्ष, पुण्य और पाप नौ तत्त्व मानते हैं । जीव अनादि और अनंत है । जीव अर्थात् चैतन्य आत्मा कर्म का कर्ता और फल का भोक्ता है । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति यह सब व्यक्त और अव्यक्त रूप से

(११)

चैतन्य गुणवाले हैं । काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्यम उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं । इन्हीं पाँच निमित्तों से परमाणु (पुद्गल) नियमपूर्वक आपस में मिलते हैं, जिससे जगत् की प्रवृत्ति होती है और यही कर्म के फल देते हैं । जीव के साथ कर्मों का संयोग रहने से उनके भोग के वास्ते वह बार बार शरीर धारण करता है । जीव सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र द्वारा कर्मों के बंधन से छूटकर अपने रूप में स्थित होता है । यं तीनों जैन धर्म के रब हैं । मुक्ति का मुख्य साधन केवल ज्ञान है । शरीर छोड़ने के बाद मुक्त चौसठ हजार योजन लंबी शिला पर अधर में स्थित होकर सदा अपने ही ज्ञान में लोकालोक देखता हुआ आनंद से रहता है । जैन लोग सृष्टि का कर्ता ईश्वर को नहीं मानते । उनके मतानुसार यह सृष्टि अनादि और अनंत है । प्रलय होने के समय वैतान्य पर्वत में सब प्रकार के जीवों के जोड़े रह जाते हैं, उन्हीं से फिर सृष्टि का प्रारंभ होता है । रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द और क्रिया से रहित अतींद्रिय, अविनाशी, अनुपाधि, अबंध, अक्लेशी, अमूर्ति, शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा ही निश्चय देव है । इससे पृथक् कोई ईश्वर नहीं । आत्मस्वरूप का यथार्थ वांध करनेवाला मनुष्य ईश्वरपद को प्राप्त हो जाता है । मनोगुणि, वचनगुणि और कायगुणि के साथ पंच महात्रत (अहिंसा, सत्य-भाषण, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिध्रह) तथा त्वमा, निरभिमानता, वृष्णात्याग, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिञ्चन और ब्रह्मचर्य आदि श्रमणधर्मों का पालन करनेवाला गुरु होता है । दया और अहिंसा जैनों का मुख्य धर्म है; वे वेदों को नहीं मानते । उनमें ब्रत उपवास और तपस्या का विशेष महत्त्व है । कई देवी देवताओं को भी जैनी मानते हैं । कई साधुओं आदि के अनशन ब्रत से प्राण छोड़ने के उदाहरण भी मिले हैं* ।

* जगमंदिरलाल जैनी, आउट लाइंस आफ जैनिजम; पृष्ठ ७—६६

(१२)

बैद्ध धर्म और जैन धर्म में बहुत सी समानताओं को देखकर कुछ यूरापीय विद्वानों ने संदेह किया है कि ये धर्म एक ही स्रोत

से निकले हैं और बुद्ध महावीर का शिष्य था ।
बैद्ध और जैन धर्म पीछे से यह दो मर्तों में बट गया । वस्तुतः का पार्थक्य

यह ठीक नहीं है । दोनों धर्म भिन्न भिन्न हैं ।

अशोक के एक धर्म-लेख में निर्ग्रंथां (जैनां) और आजीवकों के लिये धर्ममहामारुकों को नियुक्त करने का उल्लेख मिलता है । स्वयं बुद्ध गृह-स्थाश्रम छोड़ने के बाद ऐसे साधुओं के साथ रहे थे, जो तपोमय जीवन व्यतीत करते थे । संभवतः ये जैन होंगे और इन्हीं के संग में रहकर बुद्ध ने इनकी बहुत सी बातों का बैद्ध धर्म में समावेश कर लिया हो ।

बैद्ध धर्म की तरह जैन धर्म भी दो मुख्य विभागों—दिगंबर और श्वेतांबर—में विभक्त हो गया । दिगंबर साधु नग्न रहते हैं और

जैन धर्म के संप्रदाय श्वेतांबर सफेद या पीले कपड़े पहनते हैं । इन दोनों शास्त्राओं के सिद्धांतों में विशेष मतभेद नहीं है । दिगंबर खीं का मोक्ष होना नहीं मानते और श्वेतांबर मानते हैं । दिगंबर तीर्थकरों की प्रतिमा पूजते हैं, परंतु श्वेतांबरों की तरह पुष्प, धूप और वस्त्राभूषण से पूजा नहीं करते । उनका कहना है कि तीर्थकर वीत-राग थे, फिर इस प्रकार रागयुक्त द्रव्यादि से सेवा कर उनको सरागी बनाना महापाप है । यह भेद कव हुआ, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता ।

यद्यपि बैद्ध मत की अपेक्षा जैन मत का प्रादुर्भाव पहले हुआ था, तथापि उसका बैद्ध धर्म के समान प्रचार नहीं हुआ । इसके कई

जैन धर्म का अधिक प्राकृत भाषा में लिखे गए और जैन-सिद्धांत कारण कारण हैं । बैद्ध मत के सिद्धांत शीघ्र ही प्रचार न होने के कारण दीर्घ काल तक ग्रंथरूप में परिणत नहीं किए गए । ऐसा माना जाता है कि ३० सन् की पाँचवीं शताब्दी

के मध्य में देवर्धिगणि ज्ञमाश्रमण ने बलभी की धर्मपरिषद् में उनके धर्मग्रंथों को लिपिवद्ध कराया। वौद्ध भिक्षुओं का जीवन जैन साधुओं की अपेक्षा अधिक सरल और कम कठोर एवं तपस्यामय होता था, जिससे भी लोगों का आकर्षण वौद्ध मत की ओर अधिक हुआ। फिर जैन धर्म को राजधर्म बनाकर उसका प्रचार करनेवाले राजा कम मिले, जैसे कि वौद्ध धर्म को अशोक और कनिष्ठ आदि मिले थे। कंबल कलिंग के राजा खारवेल ने, जो २५० सन् की दूसरी शताब्दी के आस-पास हुआ था, जैन धर्म को स्वोकार कर उसकी कुछ उन्नति की। इन कारणों से जैन धर्म का प्रचार बहुत शनैः शनैः हुआ*।

हमारे निर्दिष्ट काल में जैन धर्म का प्रचार आंध्र, तामिल, कर्ना-टक, राजपूताना, गुजरात, मालवा तथा विहार और उड़ीसे के कुछ भाग में था। दक्षिण में ही जैनों ने अपने जैन धर्म की उन्नति मत का विशेष प्रचार किया। वहाँ वे संस्कृत और अवनति भाषा के शब्दों का बहुत प्रयोग करते थे जिसका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण की तामिल, आंध्र आदि भाषाओं में संस्कृत के बहुत से शब्द मिल गए। जैनों ने वहाँ पाठशालाएँ भी खोलीं। आज भी वहाँ बालकों को वर्णमाला सिखाते समय पहला वाक्य 'ॐ नमः मिद्धम्', पढ़ाया जाता है, जो जैनों की नमस्कार-विधि है। दक्षिण में कई राजाओं ने जैन धर्म को आश्रय दिया। तामिल प्रदेश में पांड्य और चोल राजाओं ने जैन गुहाओं को दान दिए, उनके लिये मदुरा के पास मंदिर और मठ बनवाए। शनैः शनैः जैनों में भी मूर्तिपूजा का प्रचार बढ़ा और तीर्थकरों की मूर्तियाँ बनने लगीं। हमारे निर्दिष्ट समय के मध्य काल से इस धर्म का उधर हास होना भी प्रारंभ हो गया।

* सी० वा० वै० वै० ; हिन्दू आफ माडिएवल इंडिया; जिल्द ३, पृष्ठ ४०५-६।

शैव-मत के प्रचारकों ने वहाँ जैन धर्म को बहुत ज्ञाति पहुँचाई। चौल राजाओं ने, जो पीछे शिव के भक्त हो गए थे, जैन धर्म को वहाँ से उठाने के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया। राजराज चौल ने मदुरा के मंदिर में बहुत से शैव साधुओं की प्रतिमाएँ बनवाकर रखवाईं। कर्नाटक में पहले चालुक्यों ने जैन धर्म को बहुत सहायता पहुँचाई थी और दक्षिण के राष्ट्रकूटों के समय (इ० स० ८००—१०००) में जैन धर्म बहुत उन्नत हुआ था। पिछले चालुक्य राजाओं ने (इ० स० १०००—१२००) शैव धर्म स्वीकार कर जैन धर्म को वहाँ से उठाने का प्रयत्न किया। जैन प्रतिमाएँ उठाकर वहाँ पौराणिक देवताओं की प्रतिमाएँ फिर से रखकी गईं। तुंगभद्रा से परे के कर्नाटक प्रदेश में गंगवंशी राजा जैन थे। ग्यारहवाँ शताब्दी के प्रारंभ में चौल राजाओं ने गंगवंशी राजा का परास्त कर दिया। शनैः शनैः होयसल राजाओं ने गंगवाडि पर अधिकार कर लिया। वे भी पहले जैन थे, परंतु रामानुज ने विष्णुवर्धन को वैष्णव बनाकर मैसूर में वैष्णव मत का प्रचार प्रारंभ कर दिया। इस तरह प्रायः संपूर्ण दक्षिण में जैन धर्म क्रमशः जीण होता गया। इस अवनति के मुख्य कारण शैव मत का प्रचार और वहाँ के राजाओं का जैनियां पर अत्याचार ही थे। उड़ीसा में भी शैव मत ने आकर उसके पैर उखाड़ दिए। वहाँ के राजाओं ने जैन धर्म पर अत्याचार कर उसे नष्ट कर दिया*।

जब दक्षिण में जैन धर्म का इस तरह हास हो रहा था, पश्चिम में वह बढ़ने और समृद्ध होने लगा। राजपूताना, मालवा और गुजरात में यह धर्म बहुत बढ़ने लगा, यद्यपि इन प्रदेशों के राजा भी शैव थे। जैन आचार्य हेमचंद्र जैन धर्म की इस वृद्धि का मुख्य कारण था। हेमचंद्र गुजरात में एक श्वेतांबर वैश्य के यहाँ १०४८

* सी० वी० वैद्य, हिस्ट्री आफ मीडिएवल इंडिया; जिल्द ३, पृ० ४०६-१०।

ई० में उत्पन्न हुआ था । पढ़-लिखकर वह अनहिलवाड़ा के जैन उपाश्रय का आचार्य हुआ । वह संस्कृत और प्राकृत का बड़ा भारी विद्वान् था । उसने द्वाग्राश्रयमहाकाण्ड, देशीनाममाला, संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण आदि अनेक ग्रंथ लिखे । गुजरात के राजा जयसिंह (सिंहराज) और कुमारपाल पर उसका बहुत प्रभाव था । कुमारपाल ने जैन धर्म स्वीकार कर उसकी उन्नति के लिये बहुत प्रयत्न किया, जिससे गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, राजपूताना और मालवे में जैन धर्म का प्रचार बहुत हुआ* ।

इन प्रदेशों के अतिरिक्त शेष भारत में जैन धर्म का प्रचार नहीं के बराबर हुआ । पीछे से कहीं कहीं मारवाड़ी व्यापारियों ने जैन-मंदिर ज़रूर बनवाए हैं, परंतु जैन धर्म के अनुयायी बहुत थोड़े ही रह गए हैं ।

ब्राह्मण धर्म

भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से वैदिक धर्म प्रचलित था । ईश्वर की उपासना, यज्ञ करना तथा वर्णव्यवस्था आदि इसके मुख्य अंग थे । यज्ञ में पशु-हिंसा भी होती थी । ईश्वर की उपासना उसके भिन्न भिन्न नामों के अनुसार भिन्न रूप में होती थी । प्रायः सारं भारतवर्ष में वैदिक धर्म का प्रचार था । वौद्ध धर्म की उन्नति के समय में उसे राज्य की सहायता मिलने के कारण हिंदू धर्म का प्रचार शनैः शनैः कम होता गया, और जैन धर्म ने भी इसे कुछ हानि पहुँचाई । वौद्ध और जैन धर्मों की उन्नति के समय में भी वैदिक धर्म या हिंदू धर्म चाण तो हुआ, परंतु नष्ट नहीं हुआ । ज्योंही वौद्ध धर्म का प्रभाव कम होने लगा त्योंही हिंदू धर्म ने बहुत बेग से उन्नति आरंभ की और वह बहुत विकसित तथा पल्लवित होने लगा ।

* सी० वी० वैद्य; हिस्ट्री आरू मीड॒वल इंडिया; जिल्ड ३, पृ० ४११ ।

बैद्ध धर्म से ही हिंदूधर्मावलंबियों ने बहुत सी बातें सार्वां। उपास्य-देवों की पूजा के लिये उनकी मूर्तियाँ की कल्पना हुई। मूर्तिपूजा कब से प्रचलित हुई, यह नहीं कहा जा बाह्यण धर्म में मूर्ति सकता। सबसे प्रथम ई० पूर्व २०० के नगरी पूजा का प्रचार के शिलालेख में संकरण और वासुदेव की मूर्ति-पूजा के लिये मंदिर बनाने का उल्लेख मिलता है। यह मूर्तिपूजा का सबसे प्राचीन लिखित उदाहरण है। इससे ज्ञात होता है कि यह प्रथा उससे बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी। हिंदू धर्म का ज्यों ज्यों पुनः प्रचार बढ़ता गया त्यों त्यों उसमें भिन्न भिन्न आचार्यों ने धार्मिक संप्रदाय भी बनाने शुरू किए। सबसे पहले हम वैष्णव संप्रदाय पर कुछ विचार करेंगे।

भगवद्‌गीता के विराट्‌रूप के वर्णन को लक्ष्य में रखकर सात्वतों (यादवों) ने वासुदेव की भक्ति के प्रचार के लिये उनकी उपासना चलाई, जो सात्वत या भागवत संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध वैष्णव संप्रदाय का उत्तर हुई। लोगों में कर्मकांड और बड़े यज्ञों से घृणा उत्पन्न हो गई थी। इसलिये उन्होंने इस भक्तिमार्ग को बहुत पसंद किया, भक्तिमार्ग का प्रचार होने पर समय पाकर विष्णु की मूर्तियाँ भी बनने लगीं, इसका काल अनिश्चित है; परंतु नगरी के उपर्युक्त शिलालेख में, जो ई० पूर्व २०० का है, संकरण और वासुदेव की पूजा के लिये शिलाप्राकार बनाने का उल्लेख है। इससे पहले मूर्ति का उल्लेख शिलालेखों में नहीं मिलता। तो भी ईसवी सन् पूर्व की चौथी शताब्दी का लेखक मेगास्थनीज मशुरा के शूरसेनी यादवों के संबंध में हैरिक्लिस (हरिकृष्ण, वासुदेव) की पूजा का उल्लेख किया है, जिस पर टीका करते हुए पतंजलि ने वासुदेव को आराध्य देवता कहा है। अनुमान होता है कि पाणिनि के समय (ई० पूर्व ६००) में



(२) शोपथार्थी विष्णु (नारायण)

[विवेदम्]

भी वासुदेव की पूजा प्रचलित हो चुकी थी अतः भागवत संप्रदाय तथा मूर्ति-पूजा उससे भी प्राचीन होगी* ।

वैष्णव संप्रदाय ने वैदिक धर्म के यज्ञ यागादि नहीं छोड़े । इस संप्रदाय के लोग भी अश्वमेथादि वडे बडे यज्ञ करते रहे, जिनमें वैष्णव धर्म के सिद्धांत पशुहिंसा होती रही । पीछे से वैष्णवों ने बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर अहिंसा को प्रधान और उसका प्रचार नहा दी । भागवत संप्रदाय का मुख्य ग्रंथ पंचरात्र संहिता है । इस संप्रदायवाले अभिगमन (मंदिरों में जाना), उपादान (पूजा की सामग्री एकत्र करना), इज्या (पूजा), स्वाध्याय (मंत्रों का पढ़ना) और योग से भगवान् का साक्षात्कार होना मानते थे । फिर वैष्णवों ने विष्णु के चौबोस अवतारों—ब्रह्मा, नारद, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभदेव, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वंतरि मोहिनी, नृसिंह, वामन, परशुराम, वेदव्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्पि—की कल्पना की; जिनमें से दस अवतार—मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्पि—मुख्य माने गए । बुद्ध और ऋषभ को हिंदुओं के अवतारों में स्थान देने से निश्चित है कि बौद्ध और जैन धर्म का प्रभाव हिंदू धर्म पर पड़ गया था, और इसलिये उनके प्रवर्तक विष्णु के अवतारों में सम्मिलित किए गए । संभव है कि चौबोस अवतारों की यह कल्पना भी बौद्धों के २४ बुद्ध और जैनों के २४ तीर्थकरों की कल्पना के अनुकरण पर हुई हो । विष्णु के मंदिर ई० स० पूर्व २०० से लेकर हमारे निर्दिष्ट काल तक ही नहीं, अब तक बराबर बन रहे हैं । शिलालेखों, ताम्रपत्रों एवं प्राचीन ग्रंथों में विष्णु-पूजकों का वर्णन मिलता है । दक्षिण में भागवत संप्रदाय का

* लर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर्कट वैष्णविज्म, शैविज्म एंड अदर माइनर रिलिज्म सिस्टम्स: पृष्ठ ८-० ।

प्रचार नवीं शताव्दी के आसपास हुआ और उधर के आलवार राजा कृष्ण के परम भक्त थे । पीछे से आलवार भी राम के भक्त होने लग गए । यह आश्चर्य की बात है कि राम के विष्णु के अवतार होते हुए भी दसवीं शताव्दी तक उनके मंदिरों या मूर्तियों के होने का कहीं पता नहीं लगता; और कृष्ण के समान राम की भक्ति प्राचीन काल में रही हो, ऐसा नहीं पाया जाता । पीछे से राम की भी पूजा होने लगी और राम-नवमी आदि त्यौहार मनाए जाने लगे* ।

शंकराचार्य के अद्वैतवाद के प्रचार से भक्ति-गार्ग का गहरा धर्मका लगा । आत्मा और ब्रह्म में एकता होने पर किसी की भक्ति

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत संप्रदाय की आवश्यकता न रही । इसलिये रामानुज ने, जिसका जन्म १०१६ ई० में हुआ, भक्ति-गार्ग का प्रचार करने के लिये अद्वैतवाद का खंडन करना प्रारंभ किया । उस समय के चौल राजा ने, जो शैव था, रामानुज की वैष्णव धर्म में भक्ति देखकर उसे मताया, जिससे वह भागकर द्वारसमुद्र के यादों के पास पहुँचा और वहीं उसने अपना कार्य आरंभ किया । फिर मैसूर के राजा विष्णुवर्द्धन को वैष्णव बनाकर वह दक्षिण में अपना प्रचार करने लगा । उसने लोगों को बताया कि भक्तिमार्ग के लिये ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों की आवश्यकता है । यज्ञ, ब्रत, तीर्थयात्रा, दान आदि से आत्मा की शुद्धि होती है । ज्ञानयोग भक्ति की ओर ले जाता है और भक्ति से ईश्वर का साक्षात्कार होता है । जीवात्मा और जगत् दोनों ब्रह्म से भिन्न होने पर भी वस्तुतः भिन्न नहीं हैं । सिद्धांत में ये एक ही हैं, परंतु कार्यरूप में एक दूसरे से भिन्न और विशिष्ट गुणों से युक्त हैं । इस संप्रदाय के विशेष दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन दर्शन

* सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकरकृत; वैष्णविज्म. शैविज्म एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स; ए० ३६—४७ ।

(१६)

के संबंध में किया जायगा । रामानुज के इस संप्रदाय का प्रचार दक्षिण में अधिक और उत्तर में कम हुआ* ।

यारहवीं सदी और उसके पीछे के वैष्णव आचार्यों का मुख्य उद्देश्य अद्वैतवाद को दूर करके भक्ति संप्रदाय स्थापित करना था ।

यद्यपि रामानुज ने विशिष्टाद्वैत संप्रदाय चलाया और उनका संप्रदाय कर शंकर के अद्वैत के प्रभाव को नष्ट करने का प्रयत्न किया, तथापि वह उसमें पूर्णतया सफल न हुआ । विशिष्टाद्वैत के सिद्धांतों से ब्रह्म और जीव में परत्पर भेद सिद्ध न हुआ, इसलिये बारहवीं शताब्दी के वैष्णव आचार्य मध्वाचार्य को विशिष्टाद्वैत संतुष्ट न कर सका । उसने परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तीनोंको भिन्न मानकर अपने नाम से 'मध्व' संप्रदाय चलाया । इसके दार्शनिक सिद्धांतों का परिचय हम दर्शन के प्रकरण में देंगे । मध्वाचार्य का जन्म शक संवत् १११६ (ई० स० ११६७) में हुआ था । उसने भी वेदांत-दर्शन और उपनिषदों का अपने सिद्धांतों के अनुकूल भाष्य किया । किसी प्रामाणिक ग्रंथ का आश्रय लिये बिना सफलता का मिलना कठिन था, इसलिये रामायणवर्गित राम और सीता की मूर्तियाँ की पूजा पर उसने जोर दिया और अपने शिष्य नरहरितीर्थ को जगन्नाथ (उड़ीसा) में राम और सीता की मूर्तियाँ लाने को भेजा । नरहरितीर्थ के अतिरिक्त उसके प्रमुख शिष्य पद्मनाभतीर्थ, माधवतीर्थ और अन्नोभ्यतीर्थ थे । मध्व संप्रदायवाले वैराग्य, शम, शरणागति (ईश्वर के शरण में अपने को सौंप देना), गुरुसेवा, गुरुमुख से अध्ययन, परमात्मभक्ति, अपने से बड़ों में भक्ति, समवयस्कों में प्रेम और अपने से छोटों पर दया, यज्ञ, संस्कार, सब कार्य हरि के समर्पण करना तथा उपासना आदि अनेक माध्वों से मोक्ष की प्राप्ति

* सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकृत; वैष्णविज्म, शंविज्म एंड अदर माइनर रिलिजेस लिमिटेड; पृ० २३-२७ ।

मानते हैं। मध्य के अनुयायी मस्तक पर दो सफेद सीधी रेखाएँ छालकर बीच में एक काली रेखा खांचते हैं और मध्य में लाल चिंदु लगाते हैं। इनके बीचों पर भी बहुधा शंख, चक्र, गदा आदि के चित्र अंकित होते हैं। इस संप्रदाय का प्रचार दक्षिणी कर्नाटक में अधिक है। भधवाचार्य के बाद भी वैष्णवों से वत्तम आदि संप्रदायों का उदय हुआ, परंतु वे हमारे समय से पीछे के हैं*।

विष्णु की मूर्ति पहले चतुर्भुज होती थी या द्विभुज, इसका ठीक निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि पाँचवीं शताब्दी के पूर्व की

विष्णु की मूर्ति बनी हुई उनकी कोई मूर्ति नहीं मिली। बुद्ध

और सूर्य की सब मूर्तियाँ द्विभुज मिलती हैं और कडफिसिस के पहली शताब्दी के सिक्के पर चैल के पास खड़ी हुई त्रिशूलधारी शिव की मूर्ति बनी है, जो बुद्ध के समान द्विभुज ही है। जैसे हिंदुओं ने बुद्धावतार की मूर्ति को चतुर्भुज बना दिया वैसे ही विष्णु और शिव की मूर्तियाँ पीछे से चतुर्भुज बनी हों तो कोई आश्चर्य नहीं। भिन्न भिन्न प्रकार की मूर्तियाँ के बनने के प्रवाह में विष्णु की चौदह और चौबीस हाथवाली मूर्तियाँ की कल्पना भी की गई और उनके हाथों में भिन्न भिन्न आयुष दिए गए। ऐसी भी कुछ मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। विष्णु की त्रिमूर्तियाँ तीन मुखवाली भी मिली हैं, जिनमें या तो किरीट सहित विष्णु के तीन मुख प्रदर्शित किए गए या मध्य में विष्णु और दोनों ओर क्रमशः वराह और नृसिंह की मूर्तियाँ बनाई गईं। शायद ये मूर्तियाँ शिव की त्रिमूर्ति का अनुकरण हों।

विष्णु के समान शिव की भी उपासना और पूजा शुरू हुई और उसके उपासक उसी को सृष्टि का कर्ता धर्ता और हर्ता मानने लगे। इस संप्रदाय के ग्रंथ 'आगम' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस मत को

* सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर-रचित; वैष्णविज्ञ, शैविज्ञ एंड अदर माइनर रिलिज्स सिस्टम्स, पृ० २७—६९।

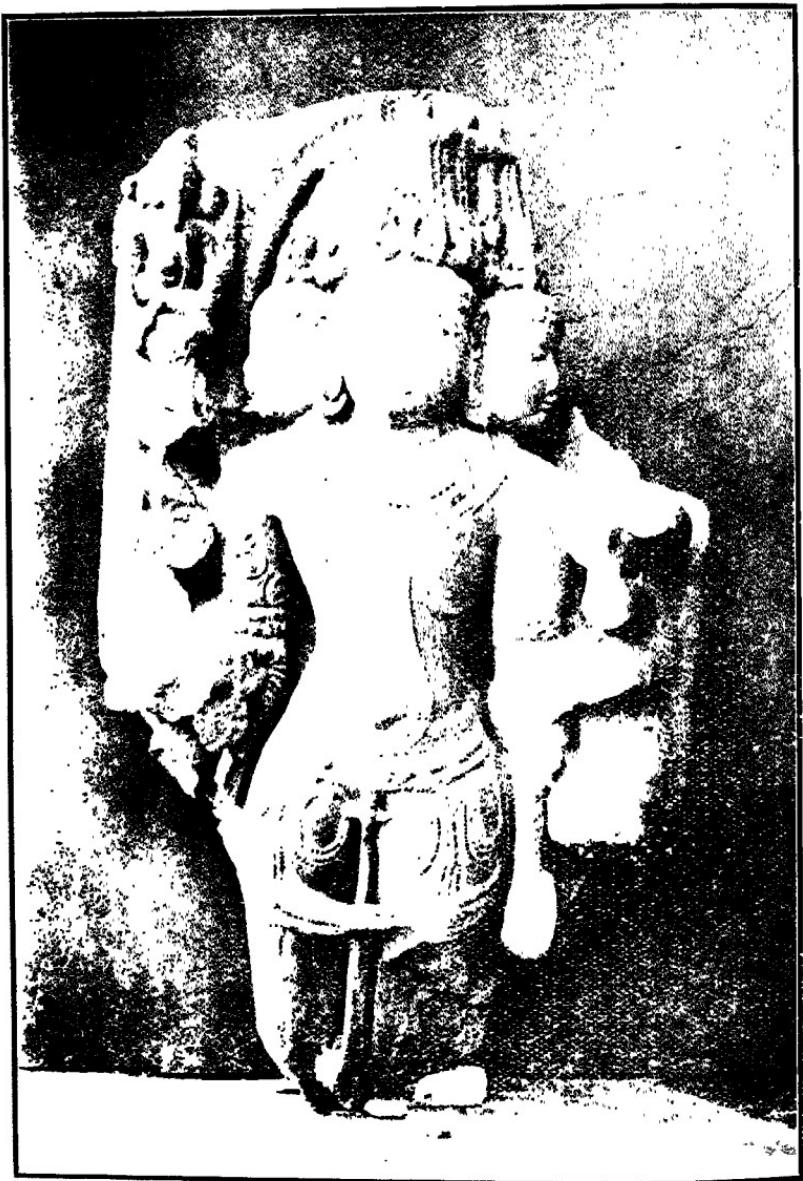


(३) विष्णु की चांद्र हाथवाली मूर्ति

[गजपताना म्यूजियम, अजमेर]

पृष्ठ २०

卷之三



(४) विष्णु की त्रिमूर्ति
[राजपूताना म्यूजियम्, अजमेर]

पृष्ठ २१





(४) शिव की त्रिमूर्ति
[धारापुरी]

माननेवाले भिन्न भिन्न प्रकार की शिव की मूर्तियाँ बनाने और पूजने लगे । वे शिव की मूर्ति के या तो छोटे स्तंभ की आकृति का गोल

लिंग, या ऊपर का भाग गोल और चारों तरफ

शैव संग्रहालय

चार मुख बनाने लगे । ऊपर का भाग विश्व या

ब्रह्मांड का सूचक और चारों तरफ के मुखों में से पूर्ववाला सूर्य का,

उत्तरवाला ब्रह्मा का, पश्चिमवाला विष्णु का और दक्षिणवाला रुद्र का

सूचक होता था । कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं, जिनके चारों ओर

मुख नहीं, किंतु इन चारों देवताओं की मूर्तियाँ ही बनी हुई हैं । कुछ

ऐसी मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जिनमें ऊपर तो चारों मुख हैं और नीचे

उनके सूचक देवताओं की खड़ी मूर्तियाँ बनी हैं । इन मूर्तियाँ

को देखने से अनुमान होता है कि उनके बनानेवालों का यही मंतव्य

होगा कि जगन् का निर्माता शिव और ये चारों देवता उसी के नाम

के भिन्न भिन्न रूप हैं । शिव की विशालकाय त्रिमूर्ति भी कहीं कहीं पाई जाती है । उसके छः हाथ, जटा सहित तीन सिर और तीन

मुख होते हैं, जिनमें से एक रोता हुआ होता है, जो शिव के रुद्र

कहलाने का सूचक है । उसके मध्य के दो हाथों में से एक में बोजेरा

तथा दूसरे में माला, दाहिनी तरफ के दो हाथों में से एक में सर्प

और दूसरे में खप्पर और वार्ड और के दो हाथों में से एक में पतले

दंड सी कोई वस्तु और दूसरे में ढाल या काच की आकृति का कोई

छोटा सा गोल पदार्थ होता है । त्रिमूर्ति वेदी के ऊपर दीवार से

सटी रहती है और उसमें छाती से कुछ नीचे तक का ही हिस्सा

होता है । त्रिमूर्ति के सामने भूमि पर बहुधा शिवलिंग होता है ।

ऐसी त्रिमूर्तियाँ बंबई से ६ मील दूर के घारापुरी (Elephanta)

नामक टापू, चित्तौड़ के किले, सिरोही राज्य आदि कई स्थानों में देखने

में आई हैं, जिनमें सबसे पुरानी घारापुरीवाली है । शिव के ताण्डव-

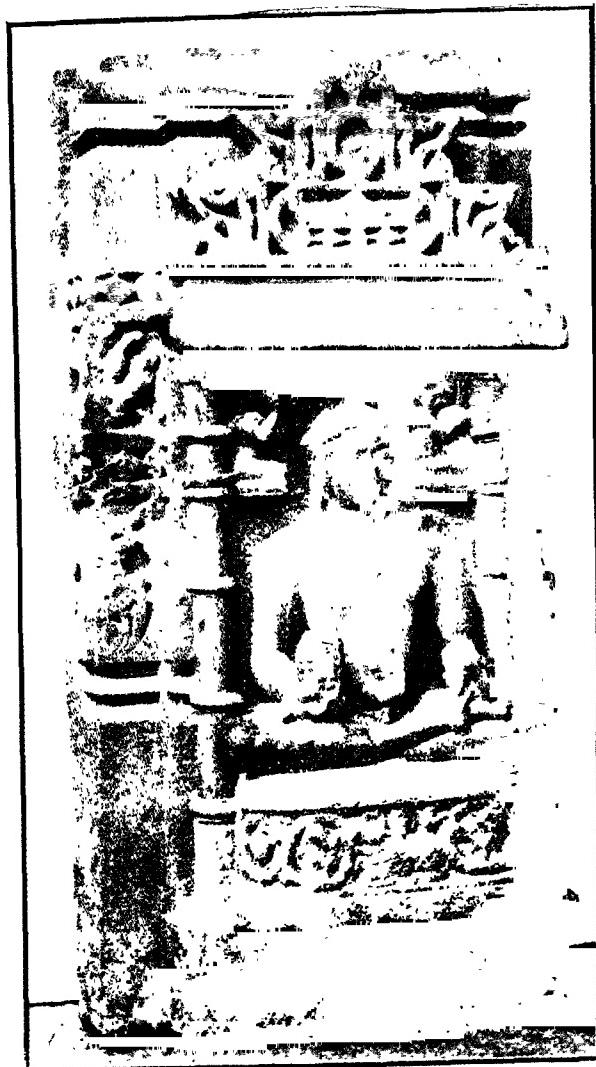
नृत्य की पाषाण या धातु की मूर्तियाँ भी कई जगह मिलती हैं

शैव संप्रदाय सामान्य रूप से पाशुपत संप्रदाय कहलाता था, फिर उसमें लकुलीश संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी उत्पत्ति के

शैव संप्रदाय की संबंध में ई० स० ६७१ के शिलालेख में लिखा भिन्न भिन्न शास्त्राएँ और है कि पहले भड़ौच में विष्णु ने भृगु मुनि को शाप दिया, तो भृगु ने शिव की आराधना उनके सिद्धांत कर उनको प्रसन्न किया। इस पर उसके

सम्मुख हाथ में लकुट (डंडा) लिए हुए शिव का कायावतार हुआ। हाथ में लकुट लिए होने से वह लकुटीश (लकुलीश अथवा नकुलीश) कहलाया और जिस स्थान में वह अवतार हुआ, वह कायावतार (कारवान, बड़ौदा राज्य में) कहलाया, और लकुलीशों का मुख्य स्थान समझा गया। लकुलीश की कई मूर्तियाँ राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, दक्षिण (मैसूर तक), बंगाल और उड़ीसा में पाई जाती हैं, जिससे ज्ञात होता है कि यह संप्रदाय बहुधा सारे भारतवर्ष में फैल चुका था। उस मूर्ति के सिर पर बहुधा जैन मूर्तियों के समान केश होते हैं, वह द्विभुज होती है, उसके दाहिने हाथ में बोजोरा और बाएँ में लकुट होता है। वह मूर्ति पद्मासन बैठी हुई होती है। लकुलीश के ऊर्ध्वरेता होने का चिह्न (ऊर्ध्वलिंग) मूर्ति में क्ना रहता है।

लकुलीश के चार शिष्यों—कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य—के नाम लिंग पुराण (२४—१३१) में मिलते हैं, जिनके नाम से चार शैव उपसंप्रदाय चले। आज लकुलीश संप्रदाय को माननेवाला कोई नहीं रहा और अब सर्वसाधारण में से भी बहुत योड़े से लोग लकुलीश नाम से परिचित हैं। पाशुपत संप्रदाय के लोग महादेव को ही सृष्टि का कर्ता, धर्ता और हर्ता समझते हैं। योगाभ्यास और भस्मस्नान को वे आवश्यक समझते हैं और मोक्ष को मानते हैं। ये छः प्रकार की—हास, गान, नर्तन, हुड्कार (बैल



(६) लकुञीश (लकुटीश) की मूर्ति
[राजपूताना म्यूजियम, अजमेर]

की तरह आवाज करना), साष्टांग प्रणिपात और जपक्रियाएँ करते हैं। इसी तरह और भी बहुत सी क्रियाएँ हैं, जिन्हें इस संप्रदाय-वाले करते हैं। शैव संप्रदाय के लोगों का विश्वास है कि जीवों के कर्मानुसार शिव फल देता है। पशु या क्षेत्रज्ञ जीव, नित्य और अणु है। जब वह पाशों (माया का एक रूप) से छूट जाता है तब वह भी शिव हो जाता है, पर महाशिव की तरह स्वतंत्र नहीं होता। कर्म और पाश माया ही है। जप और योगसाधना आदि को भी ये मुख्य स्थान देते थे। शैवों के अन्य दो संप्रदायों—कापालिक और कालामुख—के अनुयायी शिव के भैरव और रुद्र रूप की उपासना करते हैं। इन दोनों में विशेष भेद नहीं है। इनके छः चिह्न—माला, भूपण, कुंडल, रत्न, भस्म और उपवीत—मुख्य हैं। इनका विश्वास है कि ऐसा करने से मनुष्य आवागमन के चक्कर से छूट जाता है। इस संप्रदाय के माननेवाले मनुष्य की खोपड़ी में खाते हैं, शमशान की राख से शरीर मलते तथा उसे खाते भी हैं, एक ढंडा और शराब का प्याला अपने पास रखते और पात्रस्थित देवता की पूजा करते हैं। इन वातों को वे इहलोक और परलोक में इच्छापूर्ति का साधन समझते हैं। ‘शंकरदिग्विजय’ में माधव ने शंकर के एक कापालिक से भिलने का उल्लेख किया है। बाण ने ‘हर्षचरित’ में भी एक भयंकर कापालिक आचार्य का वर्णन किया है। भवभूति ने ‘मालतीमाधव’ में खोपड़ियों की माला पहने हुए कपालकुंडला नाम की एक छोटी का वर्णन किया है। इन दोनों संप्रदायों के साधुओं का जीवन बहुत भयंकर था। इस संप्रदाय के अनुयायी साधु ही होते थे, सामान्य जनता नहीं। अब तो इस संप्रदाय का अनुयायी शायद ही कोई हो।

काश्मीर में भी शैवधर्म का प्रचार विशुद्ध रूप में था। बसुगुप्त ने इस संप्रदाय का मूल ग्रंथ ‘स्पंदशास्त्र’ लिखा, जिसकी टीका उसके

शिष्य कल्पट ने, जो अवन्तिवर्मा (८५४ई०) के समय में था, स्पन्दकारिका के नाम से की। इनका मुख्य सिद्धांत यह था कि परमात्मा मनुष्यों के कर्मफल की अपेक्षा न कर अपनी इच्छा से ही किसी सामग्री के बिना सृष्टि का पैदा करता है।

काश्मीर में सोमानंद ने दसवीं सदी में शैव संप्रदाय की एक शाखा—प्रत्यभिज्ञा संप्रदाय—का प्रचार किया। उसने 'शिवदृष्टि' नामक ग्रंथ लिखा। इसमें और प्रधम शाखा में अधिक भेद नहीं है।

जिस समय वैष्णवधर्म अहिंसा आदि को लिए हुए नए रूप में आंघ्र और तामिल प्रदेश तथा पूर्व में शैव संप्रदाय के विरोध में फैल रहा था, उस समय कर्नाटक में एक नवीन शैव संप्रदाय का जन्म हुआ। कानड़ी भाषा के 'बसव पुराण' से पाया जाता है कि कलचुरि राजा विज्जल के समय (वारहवीं सदी) में बसव नामक ब्राह्मण ने जैनधर्म को नष्ट करने की इच्छा से लिंगायत (वीर शैव) मत चलाया। उसके गुणों को देखकर विज्जल ने उसे अपना मंत्री नियत किया और वह जंगमों (लिंगायत संप्रदाय के धर्मप्रदेशकों) के लिये बहुत द्रव्य खर्च करने लगा। डाक्टर फ्लीट के कथनानुसार एकांत इस संप्रदाय का प्रवर्तक था, बसव तो इसका एक उत्तम प्रचारक मात्र था। ये जैनों के शत्रु थे और उनकी मूर्तियाँ फिँकवाते थे। इस संप्रदाय में अहिंसा को मुख्य स्थान दिया गया था। इसमें हिंदू समाज के प्रधान अंग वर्णव्यवस्था को कोई स्थान नहीं मिला और न संन्यास या तप को ही कोई मुख्यता प्राप्त हुई। बसव ने कहा कि प्रत्यक्ष प्राणी को, चाहे वह जंगम ही क्यों न हो, अपने श्रम से कमाना चाहिए, न कि भीख माँगकर। उसने सदाचार पर भी बौद्धों और जैनों की अपेक्षा कम ध्यान नहीं दिया। भक्ति इस संप्रदाय की विशेषता थी। लिंग का चिह्न इस संप्रदाय का सबसे बड़ा चिह्न है। इस संप्रदाय के लोग अपने गले में शिवलिंग लटकाए रहते हैं।

जो चाँदी की डिविया में रहता है, क्योंकि इनका विश्वास है कि शिव ने अपने तत्त्व को लिंग और अंग में विभक्त कर दिया था। विशिष्टाद्वैत से इन संप्रदाय की कुछ समानता है। यह संप्रदाय वैदिक मत से बहुत बातों में भिन्न है। यज्ञोपवीत संस्कार की जगह वहाँ दीक्षा संस्कार होता है। गायत्री मंत्र की जगह वे 'ॐ नमः शिवाय' कहते हैं और यज्ञोपवीत की जगह नले में लिंग लटकाते हैं।

तामिल प्रदेश में भी शैव संप्रदाय का बहुत प्रचार हुआ। ये शैव, जैनों और वौद्धों के शाप्रये। इनके धार्मिक साहित्य के ग्यारह

दक्षिण में शैव संप्रदाय का पापा संग्रह हैं, जो भिन्न भिन्न समय पर लिखे गए। मवर्ये अधिक प्रतिष्ठित नंगवक तिन्हानसंबंध

हुआ, जिसकी मूर्ति तालिका प्रदेश के शैव मंदिरों में पूजा के लिये रखी जाती है। तामिल कवि और दार्शनिक अपने ग्रंथ के प्रारंभ में उसी के नाम से मंगलाचरण करते हैं। कांचीपुर के शैव मंदिर के शिलालेख से छठी सदी में शैवधर्म के दक्षिण में प्रचार होने का पता लगता है। पञ्चव शासक राजसिंह ने, जो कि संभवतः ५५० ई० के आस पास हुआ था, राजसिंह-श्वर का शिवमंदिर बनवाया। यह निश्चिन है कि इनके दार्शनिक सिद्धांत भी अवश्य विकसित थे क्योंकि राजसिंह के शैव सिद्धांतों में निपुण होने का उल्लेख शिलालेख में मिलता है, परंतु वे क्या थे, यह मालूम नहीं हो सका*।

ब्रह्मा सृष्टि का उत्पादक, यज्ञों का प्रवर्तक और विष्णु का एक अवतार माना जाता है। ब्रह्मा की मूर्ति चतुर्मुख होती है, परंतु जो मूर्ति दीवार से लगा होती है, उसके तीन मुख ही दिखाए जाते हैं और परिक्रमावाली मूर्ति के चारों मुख। ऐसी चतुर्मुख मूर्तियाँ

* मरा रामकृष्ण गोदावरी भांडारकल्कुत वैद्यनविज्ञ शैविज्ञम् एंड अद्वा माइनर रिक्टिज्म मिस्टर्स्म; पृष्ठ ११५—१४२।

थोड़ी ही देखने में आई हैं। ब्रह्मा के कई मंदिर अब तक विद्यमान हैं, जिनमें पूजन भी होता है। ब्रह्मा के एक हाथ में सुव होता है,

ब्रह्मा की मृति^१ जो यज्ञकर्ता का सूचक है। शिव-पार्वती के विवाहसूचक मूर्ति-समुदाय में, जो कई एक

मिले हैं, ब्रह्मा पुराहित वताया गया है आश्चर्य की बात यह है कि जैसे विष्णु और शिव के भिन्न भिन्न संप्रदाय मिलते हैं, वैसे ब्रह्मा के संप्रदाय नहीं मिलते। मूर्ति-कल्पना में ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर तीनों एक ही परमात्मा के रूप माने गए हैं। ब्रह्मा की कई मूर्तियाँ ऐसी मिली हैं जिनके ऊपर के एक किनार पर शिव और दूसरे पर विष्णु की छोटी छोटी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। ऐसे ही विष्णु की मूर्तियाँ पर शिव और ब्रह्मा की और शिव की मूर्तियाँ पर ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियाँ मिलती हैं। इससे यह न्यष्ट पाया जाता है कि ये तीनों देवता एक ही परमात्मा या ईश्वर के भिन्न भिन्न रूप माने जाते थे। भक्तों ने अपनी अपनी रुचि के अनुमार चाहे जिसकी उपासना प्रचलित की। पीछे से इनकी चियाँ सहित मूर्तियाँ भी बनने लगीं और शिव पार्वती की मूर्ति के अतिरिक्त शिव की 'अर्धनारीश्वर' मूर्ति भी मिलती है, जिसने आधा शरीर शिव का और आधा शरीर पार्वती का होता है। ऐसे ही सम्मिलित मूर्तियाँ भी मिलती हैं। शिव और विष्णु की सम्मिलित मूर्ति को हरिहर और तीनों की सम्मिलित मूर्ति को हरिहर पितामह कहते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही मुख्य तीन देवता माने जाते थे। अठारह पुराण इन्हीं तीन देवताओं के संबंध में हैं। विष्णु, नारदोय,

त्रिदेव-पूजा भागवत, गरुड़, पद्म और वराह पुराण विष्णु

से, मत्स्य, कूर्म, लिंग, वायु, स्कंद और अग्नि पुराण शिव से तथा ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य वामन और ब्रह्म पुराण बहुधा ब्रह्मा से संबंध रखते हैं।



(७) ब्रह्मा, विष्णु और शिव की मृति
[राजपूताना ग्रन्तियम्, अजमेर]



(द) लक्ष्मीनारायण की मृति (गरुड़ पर)

[गजपतनाना म्यूनियम्, अजमेर]

पृष्ठ २६



४) अधनारीःवर की सूनि

[मदुग]

पृष्ठ २६





321

(१०) व्रह्माणि (मानुका) की सूर्णि
[राजपूताना म्यूजियम्, अजमेर]

केवल परमात्मा के भिन्न भिन्न नामों को ही देवता मानकर उनकी पृथक् पृथक् उपासना प्रारंभ नहीं हुई, किंतु ईश्वर की भिन्न

रांकिपूजा भिन्न शक्तियाँ और देवताओं की पत्रियाँ की भी

कल्पना की जाकर उनकी पृथक् पृथक् पूजा होने लगी। प्राचीन साहित्य को देखने से ऐसी देवियाँ के बहुत से नाम पाए जाते हैं। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही और ऐंटो इन सात शक्तियाँ को मातृका कहते हैं। कुछ भयंकर और रुद्र शक्तियाँ की कल्पना भी की गई, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—काली, कराली, कापाली, चामुंडा और चंडी। इनका संबंध कापालिकों और कालामुखों से है। कुछ ऐसी भी शक्तियाँ की कल्पना हुई, जो विषय-विलाम की ओर ले जानेवाली हैं। इस प्रकार की देवियाँ आनंद-भैरवी, त्रिपुरसुंदरी और ललिता आदि हैं। उनके उपासकों के मंतव्य के अनुसार शिव और त्रिपुरसुंदरी के योग से ही संसार बना है। नागरी वर्णमाला के प्रथम अक्षर 'अ' से शिव और अंतिम अक्षर 'ह' से त्रिपुरसुंदरी अभिप्रेत है। इस तरह दोनों का योग 'अहं' कामकला का सूचक है*।

भैरवी चक्र शाक्तों का एक मुख्य मंतव्य है। इसमें द्वा के गुण भाग के चित्र की पूजा होती है। शाक्तों में दो भेद हैं,

कौलमत कौलिक और समयिन। कौलिकों में दो भेद हैं,

प्राचोन कौलिक तो योनि के चित्र की ओर दूसरे वास्तविक योनि की पूजा करते हैं। पूजा के समय वे (कौलिक) मद्य, मांस, मीन आदि का भक्षण भी करते हैं। समयिन इन क्रियाओं से दूर रहते हैं। कुछ ब्राह्मण भी कौलिकों के सिद्धांत

* सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर कृत वैष्णवित्त शैविज्ञ एंड अदर माझनर रिलिजस सिस्टम्स; पृ० १४२—४६।

मानते थे । इस भैरवी चक्र के समय वर्णभंद नहीं माना जाता । नवों शताब्दी के अंत के आस-पास होनेवाले कवि राजशंखर ने अपने 'कर्पूरमंजरी' नामक मटूक में भैरवानंद के मुख से कौलमत का वर्णन इन शब्दों में कराया है—

नताण तंताण ए किं पि जार्ण कार्ण च णो एकं पि गुरुष्पसाथो ।

इजं पित्रामो महिलं रमादो भोक्तं च जामो कुटमग्नलग्ना ॥ २२ ॥

अत्रि अ—

रेडा चंडा दिक्षित्रा व्रम्मदा । नज्ञ दंसं विज्ञ खज्ञ च ।

भिक्षा भोजं चर्मखंडं च लंजा कोला प्रस्तो कस्त रंग भाइ रमोर्मा ॥ २३ ॥

अर्थ—हम मंत्र तंत्रादि कुछ नहीं जानते, न गुरुष्पा से हमें कोई ज्ञान प्राप्त है । हम लोग मध्यपान और खो-गमन करते हैं और कुलमार्ग का पालन करते हुए सोक्त को प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

पुनर्श्च—

कुलटाओं को दीक्षित कर हम धर्मपत्रों वना लेते हैं । हम लोग मध्य पांते और मांस खाते हैं । भिन्नान्न ही हमारा भोजन और चर्मखंड शर्या है । ऐसा कौल धर्म किसे रमणीय पतीत नहीं होता ? ॥ २३ ॥

इन सब देवियों के अतिरिक्त गणेश की पूजा हमारे समय से भी पूर्व प्रारंभ हो चुकी थी । गणेश या विनायक, छठ के गणों का

गणेश पूजा नेता था । याज्ञवल्क्य सृति में गणेश और

उसकी माता अंबिका की पूजा का वर्णन मिलता है । न तो चौथी शताब्दी से पूर्व की कोई गणपति की मूर्ति मिली और न उस समय के शिलालेखों में उसका उल्लेख मिलता है । इलोरा की गुफाओं में कतिपय देवियों की मूर्ति के ।

* सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर कृत वैष्णविज्ञ शैविज्ञ एंड अदर माइनर रिलिजस मिस्टर्स पृष्ठ १४६—४७ ।

† कर्पूरमंजरी, प्रथम जवनिकांतर; हार्षदे लंस्करण; पृष्ठ २४—२५ ।

साथ गणपति की मूर्ति वनी हुई है। ८८२ ई० के घटियाला के संभ में श्रीगणेश की चार मूर्तियाँ वनी हैं। गणेश के मुख में सूँड की कल्पना न जाने कब आविष्कृत हुई। इलोरा तथा घटियाले की मूर्तियों में सूँड वनी हुई है। 'मालतीमाधव' में भी गणेश की सूँड का वर्णन है। गणपत्यों की भी कई शाखाएँ हो गई। अन्य देवों की तरह आज तक गणपति की पूजा होती है*। महाराष्ट्र में गणपतिपूजा का उत्सव विशेष रूप से मनाया जाता है।

स्कंद या कार्तिकेय की पूजा भी प्राचीन समय में होती थी। स्कंद, शिव का पुत्र माना जाता था। रामायण में उसे गंगा का पुत्र चताया गया है। इसके विषय में कई अन्य दंतकथाएँ भी प्रचलित हैं। स्कंद दंव-तांत्रियों का सेनापति माना जाता है। पतंजलि ने महाभाष्य में शिव और स्कंद की मूर्तियों का उल्लेख किया है। कनिष्ठ के सिक्कों पर स्कंद महासंन आदि कुमार के नाम मिलते हैं। ४०४ ई० में ध्रुवशर्मा ने विलसद में स्वामी महासेन के मंदिर में प्रतोली वनवार्ही थी। हेमाद्रि के ब्रतखण्ड में स्कंद की पूजा का वर्णन मिलता है। यह पूजा आज तक प्रचलित है।

हमारे निर्दिष्ट समय में इन दंवियों के अतिरिक्त सूर्य-पूजा भी बहुत अधिक प्रचलित थी। सूर्य ईश्वर का ही रूप माना जाता था।

सूर्य-पूजा ऋग्वेद में सूर्य की उपासना का बहुत जगह उल्लेख है। ब्राह्मणों और गृह्यसूत्रों में भी इसका बहुत वर्णन है। सूर्य का देवों में विशेष स्थान था। बहुत से संस्कारों में भी इसकी पूजा होती थी। इसकी पूजा दिन के

* सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर कृत वैष्णविज्ञ शंविज्ञ एंड अदर माइनर रिलिजेस सिस्टम्स; पृष्ठ १५७—१५०।

भिन्न भिन्न भागों में उसे उत्पादक, संरक्षक, विनाशक आदि नामों से, बहुत प्रकार से, की जाती थी ।

सूर्य की मूर्तियों की पूजा कब से भारत में प्रचलित हुई, यह कहना कठिन है । वराहमिहिर ने सूर्य की मूर्तियों की पूजा का मर्गों के द्वारा प्रचलित होने का उल्लेख किया है । सूर्य की मूर्ति द्विमुज होती है । दोनों हाथों में कमल, सिर पर किरीट, छाती पर कवच और पैरों में घुटने से कुछ नीचे तक लंबे बूट होते हैं । हिंदुओं में पूजों जानेवाली मूर्तियों में से सूर्य की मूर्ति ही ऐसी है, जिसके पैरों में लंबे बूट मिलते हैं । संभव है, सूर्य की प्रथम मूर्ति शीतप्रधान ईरान से आई हो, जहाँ बूट पहनने का रिवाज था । भविष्यपुराण में लिखा है कि सूर्य के पैर खुले नहीं होने चाहिए । उसी पुराण में एक कथा है कि राजा सांव (कृष्ण और जांबवती के पुत्र) ने सूर्य की उपासना से नीरोग होने के कारण सूर्य की मूर्ति स्थापित करनी चाही, परंतु देवपूजा से प्राप्त होनेवाले द्रव्य से ब्रह्म-क्रिया नहीं होती, यह कहकर उस कार्य को ब्राह्मणों ने स्वीकार नहीं किया । तब राजा ने शाक द्वीप (ईरान का दक्षिण-पूर्वी भाग) से मग जाति के ब्राह्मणों को बुलाया* । ये लोग अपनी उत्पत्ति

* एवमुक्तु सांवेन नारदः प्रत्युत्ताच तम् ।

न द्विजाः परिगृह्णति देवस्य स्तीकृतं धनम् ॥ ४ ॥

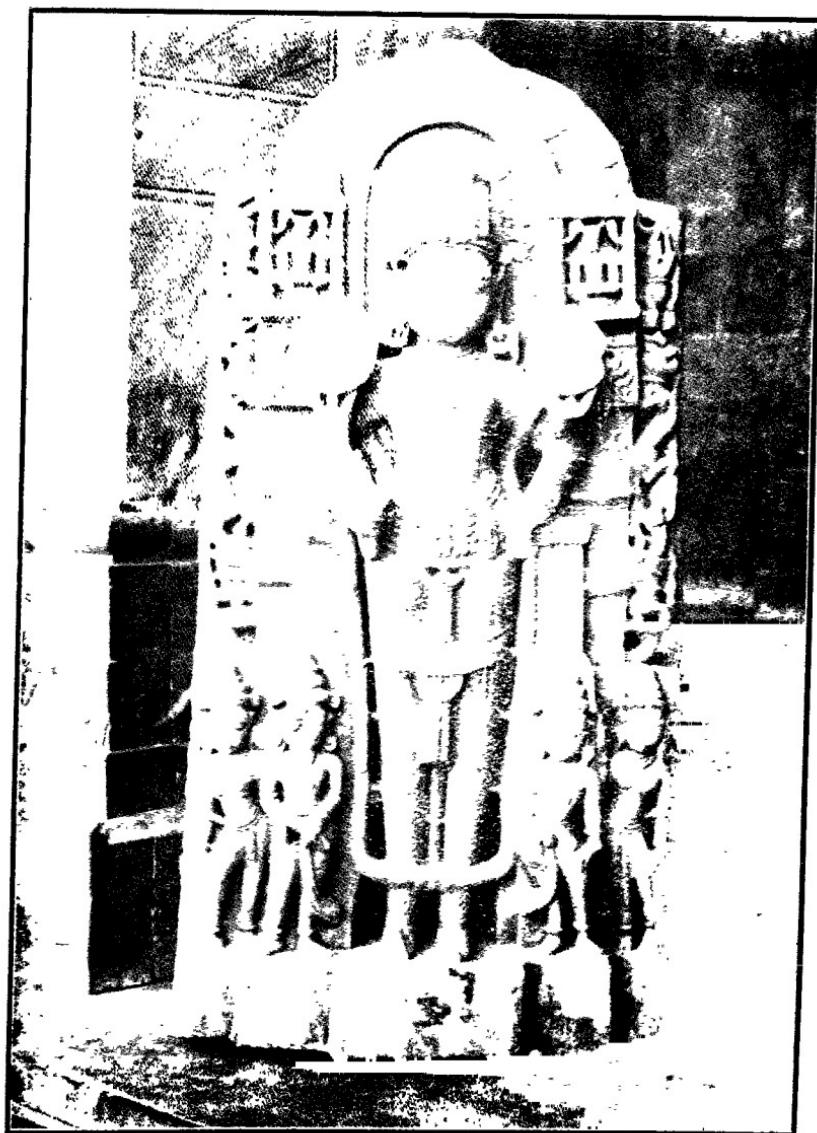
.....
देवचर्यागतैद्र्द्वयैः क्रिया ब्राह्मी न विद्यते ॥ ५ ॥

.....
अग्राह्यं च द्विजातिभ्यः कस्मै देयमिदं मया ॥ २८ ॥

.....
मगाय संप्रयच्छ त्वं पुरमेतच्छुभं विभोः ॥ २९ ॥

.....
तस्याधिकारो देवाङ्गे देवतानां च पूजने ॥ ३० ॥

भविष्यपुराण, ब्रह्मपर्व अध्याय ॥ १३६ ॥



(११) संख्या का मृति
राजपूताना म्यूजियम्, अजमेर

पृष्ठ ३०



प्राह्णण कन्या और सूर्य से होना मानते थे और सूर्य की पूजा करते थे । अलवेशनी लिखता है—“भारत के तमाम सूर्यमंदिरों के पुजारी ईरानी मग होते हैं” । राजमृताने में इनको सेवक और भोजक कहते हैं । सूर्य के हजारों मंदिर वने और अब तक सैकड़ों मंदिर विद्यमान हैं, जिनमें सबसे विशाल और सारे प्राकार सहित संगमरमर का बना हुआ सिराही राज्य के बरमाण गाँव में विद्यमान है । यह मंदिर प्राचीन है और इसके स्तंभों पर नवीं और दसवीं सदी के लंख खुदे हैं, जिनमें उस मंदिर को दिए हुए दानों का उल्लेख है । जैसे शिवमंदिर में वृषभ और विष्णुमंदिर में गरुड़ उनके बाहन होते हैं, वैसे सूर्यमंदिर में सूर्य के सामने चतुरस्त स्तंभ के ऊपर कीती पर धूमता हुआ उसके बाहन रूप एक कमलाकृति चक्र होता है । ऐसे चक्र आज भी कई मंदिरों में विद्यमान हैं । इस रथ को खींचनेवाले सात धोड़ों की कल्पना गई है इसी से सूर्य को सप्तश्व या सप्तसम्पि कहते हैं । कई मूर्तियाँ में सूर्य के नीचे सात धोड़े भी बने हुए हैं । एक सूर्यमंदिर के बाहर की तरफ सात धोड़ों-वाली सूर्य की कुब्रा ऐसी मूर्तियाँ भी हमने देखी हैं, जिनके नीचे का भाग बूट सहित सूर्य का और ऊपर का ब्रह्मा, विष्णु या शिव का है ।

पाटण (भालरापाटन राज्य) के पद्मनाभ नामक विष्णुमंदिर के, जो अनुमानतः दसवीं शताब्दी का बना हुआ है, पीछे के ताक में ऐसी मूर्ति है, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और सूर्य तीनों का मिश्रण है, जैसा कि उनके भिन्न भिन्न आयुधों से पाया जाता है ।

सूर्य के विद्यमान मंदिरों में सबसे पुराना मंदसोर का सूर्य-मंदिर है, जो ईस ४३७ में बना था, जैसा कि उसके शिलालेख से जान पड़ता है । मुलतान के सूर्य-मंदिर का उल्लेख हुएनत्संग ने किया है । अरब यात्री अलवेशनी ने भी इस मंदिर को ग्यारहवीं सदी में देखा था । हर्ष के एक ताम्रपत्र में उसके पूर्वज प्रभाकरवर्द्धन,

राज्यवर्द्धन और आदित्यवर्द्धन के परमादित्यभक्त होने का उल्लेख है। सूर्य के पुत्र रंगत की भी धोड़े पर वैठी हुई मूर्तियाँ मिलती हैं। वह धोड़ों का अधिष्ठाता देवता साना जाता है और उसके पैरों में भी सूर्य के समान लंबे ब्रूट देख पड़ते हैं*।

इसी तरह अष्टदिक्पात्रों—इंद्र, अग्नि, यम, नैऋत, वरुण, मरुत, कुवर और ईश (शिव)—की भी मूर्तियाँ धीं ये मूर्तियाँ मंदिरों में पूजी जाती थीं और कई मंदिरों आदि पर अपनी अन्य देवताओं की अपनी दिशाओं के क्रम से लगी हुई भी पाई जाती मूर्तियाँ हैं। अष्टदिक्पात्रों की कल्पना भी बहुत प्राचीन है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में धनपति (कुवर) के मंदिर में मुरुंग, शंख और नूण्ड (वंसी) के वजने का उल्लेख किया है†।

हिंदुओं में जब मूर्तियाँ की कल्पना का प्रवाह चल पड़ा, तब देवताओं की मूर्तियाँ तो क्या, वह, नक्त्र, प्रातः, मध्याह्न, सायं, आदि समयविभाग, शब्दों, नदियों, कन्ति आदि युगों तक की मूर्तियाँ बना डाली गईं। पीछे से भिन्न भिन्न देवताओं के उपासक हिंदुओं में भेदभाव या द्वेष नहीं रहा। तात्रपत्रादि से पाया जाता है कि एक राजा परम वैष्णव था, तो उसके पुत्रादि परम महेश्वर या भगवती के भक्त होते थे अंत में हिंदुओं के पाँच—सूर्य, विष्णु, देवी, नृष्ट और शिव—मुख्य उपास्य देवता रह गए, जिन्हें सामान्य रूप से पंचायतन कहते हैं। शिव विष्णु आदि के ऐसे पंचायतन मंदिर भी मिलते हैं और वरों में भी पंचायतन पृजा होती है। जिस देवता का मंदिर होता है उसकी मूर्ति मध्य में और चारों कोनों में अन्य चार देवताओं की मूर्तियाँ होती हैं।

* सर रामकृष्णगोपाल भांडाकरका वैष्णविज्ञ रॉयलियम पुंड अदर भाइनर रिलिज्स प्रिस्टम; पृष्ठ १५१-१५।

† पालिनि के मूल २। २। ३४ पर पतंजलि का भाष्य।



(१२) यम की मृति
राजपूताना म्यूजियम, अजमेर]

पृष्ठ ३२

(१३) नवग्रहों में से शुक्र, शनि, शर, गहुँ और केतु की मुर्तियाँ

[राजपूताना मृद्दिकम्, असम ।]



हिन्दूधर्म के इन सब संप्रदायों पर विचार करने के पश्चात् उसके कुछ सामान्य अंगों पर संक्षिप्त विचार करना आवश्यक है। हिंदुओं के प्रमाणभूत ग्रंथ वेद हैं। हमारे निर्दिष्ट हिन्दूधर्म के सामान्य काल में भी वेद पढ़े जाते थे, परंतु वेदों की अंग वह प्रधानता वैसी न रही थी। अलबेस्त्रनी लिखता है—“ब्राह्मण वेदों को अर्थ समझे ही बिना कंठस्थ कर लेते हैं और बहुत थोड़े ब्राह्मण उसका अर्थ समझने की कांशिश करते हैं। ब्राह्मण ज्ञात्रियों को वेद पढ़ाते हैं, वैश्यों और शूद्रों को नहीं*। वैश्यों ने पहले बौद्ध होकर बहुधा वेदादि को पढ़ना छोड़ दिया था, तब से उनका संबंध वेदों से छूट गया। अलबेस्त्रनी लिखता है कि वेद लिखे नहीं जाते थे, याद किए जाने थे इस पद्धति से बहुत सा वैदिक साहित्य नष्ट हो गया†। वेदों की जगह पुराणों का प्रचार होता गया और पौराणिक संस्कारों का प्रचलन बढ़ता गया। श्राद्ध और तर्पण की प्रथा बहुत बढ़ गई। यज्ञों का प्रचार कम हो गया था और पौराणिक देवताओं की पूजा बढ़ गई थी, जिसका वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। अलबेस्त्रनी ने कई मंदिरों की मूर्तियों का भी वर्णन किया है‡।

मंदिरों के साथ साथ मठों की भी स्थापना आरंभ कर दी गई थी। इस संबंध में हिंदुओं ने बौद्धों का अनुकरण किया। सब संप्रदायों और उपसंप्रदायों के साधु और तपस्वी इन मठों में रहते थे। अनेक शिलालेखों में मंदिरों के साथ मठ, बाग और व्यास्त्यान-शालाओं के होने का उल्लेख मिलता है। बहुत से संस्कारों का वर्णन याज्ञवल्क्य स्मृति और उसकी मितान्नरा टीका में है। बौद्धों की रथयात्रा का अनुकरण भी हिंदुओं ने कर लिया। इन सब परिवर्तनों के

* अलबेस्त्रनीज इंडिया, साचू कृत अंगरेजी अनुवाद; जिल्द १, पृष्ठ १२८।

† वही; जिल्द १, पृष्ठ १२५।

‡ चिंविंवेद; हिस्ट्री ऑफ मिडिलवल इंडिया; जिल्द ३, पृष्ठ ४३४-३५।

होने का यह आवश्यक परिणाम था कि धार्मिक साहित्य में भी परिवर्तन हो। इस काल में कई नई स्मृतियाँ बनीं, जिनमें तत्कालीन रीति रिवाजों का उल्लेख है। पुराणों के नए संस्करण होकर उनमें वौद्धों और जैनों से भिन्नती हुई बहुत सी वातें दर्ज की गईं। ब्रतों का प्रचार भी बहुत बढ़ा। कई देवताओं के नाम से विशेष ब्रत किए जाते थे। पुण्य वुद्धि से ब्रत और उपवासों की प्रथा हिंदुओं ने बोद्धों और जैनों से ली। एकादशी, जन्माष्टमी, देवशयनी, दुर्गाष्टमी, ऋषि-पंचमी, दंवप्रदोधनी, गौरी वृत्तीया, वसंतपंचमी, अन्नय वृत्तीया आदि त्योहारों पर ब्रत रखने का अलबेस्तनी ने उल्लेख किया है। यहाँ पर यह वात ध्यान देने योग्य है कि उसने रामनवमी का उल्लेख नहीं किया। संभवतः उस समय पंजाब में रामनवमी का प्रचार न था। इसी तरह अलबेस्तनी ने कई धार्मिक त्योहारों का भी वर्णन किया है। कई त्योहार तो विशेषतः स्त्रियों के लिये होते थे*।

हिंदू समाज के धार्मिक जीवन में प्रायशिच्चतों का भी विशेष स्थान था। साधारण सामाजिक नियमों को भी धर्म का रूप देकर उनके पालन न करने पर प्रायशिच्चत का विधान किया गया था। हमारे निर्दिष्ट काल में जो स्मृतियाँ बनीं, उनमें प्रायशिच्चतों को मुख्य स्थान दिया गया। अंत्यजों के साथ खाने, अशुद्ध जल पीने, निषिद्ध और अपवित्र भोजन करने, रजस्वला और अंत्यजों के स्पर्श, उष्ट्रों के दूध पीने, शूद्र, खी, गौ, चत्रिय और ब्राह्मण की हत्या, आदि में मांस देने पर न खाने, समुद्र-यात्रा करने, जर्बदस्ती दास बनाने, खियों के बलपूर्वक म्लेच्छों द्वारा छीने जाने पर फिर शुद्ध न करने, व्यभिचार, सुरापान, गोमांसभक्षण, अपवित्र वस्तु के स्पर्श, शिखाच्छेदन, यज्ञोपवीत के विना भोजन करने आदि बातों पर चांडायण, कृच्छ आदि भिन्न भिन्न प्रायशिच्चतों का विधान है।

* चिंवि०वैद्य; हिन्दू आफ मिडियल इंडिया; जिल्ड ३, पृ० ४३६-४६।

(३५)

अस्पृश्यता आदि वातें हमारे समय के पिछले काल में प्रचलित हुईं। इनसे हिंदू धर्म में संकीर्णता ने बहुत प्रवेश कर लिया और यह संकीर्णता शनैः शनैः बढ़ती गई।

कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य

हमारे निर्दिष्ट समय के भारत के धार्मिक इतिहास में कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य का विशेष स्थान है। हम पहले कह चुके हैं

कि वैद्वतों और जैनियाँ ने ईश्वर के अस्तित्व कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य का विशेष स्थान होने को स्वीकृत उसके मिद्दांत नहीं किया था। इससे साधारण जनता में

ईश्वर और वेद के प्रति श्रद्धा उठती जाती थी। येही दोनों हिंदू धर्म के प्रधानभूत अंग हैं। इनके नष्ट होने से हिंदू धर्म भी नष्ट हो जाता। वैद्वत धर्म का जब प्रचार कम हो रहा था और हिंदू धर्म का प्रचार पीछे तेजी से बढ़ रहा था, उस समय (सातवीं सदी के अंतिम भाग में) कुमारिल भट्ट उत्पन्न हुआ। उसके निवास-स्थान के विषय में विद्वानों में बहुत मत-भेद है। कोई विद्वान् उसे दक्षिणी मानते हैं और कोई उसे उत्तरी भारत का निवासी। हम इस विवाद में उतरना नहीं चाहते। उसने वेदों के प्रचार के लिये बहुत प्रयत्न किया और यह बतलाया कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है। उस समय की अहिंसा की लहर के विरुद्ध कर्मकांड को भी पुनरुज्ज्वित करने का उसने यत्र किया। यज्ञों में पशु-हिंसा की भी उसने पुष्टि की। कर्मठ के लिये यज्ञ और उसमें पशु-हिंसा आवश्यक थी। वह वैद्वत भिज्जुओं के वैराग्यवाद—मन्यासाश्रम—के भी विरुद्ध था। उस समय की प्रतिकूल अवस्थाओं में भी कुमारिल ने अपने मिद्दांतों का बहुत प्रचार कर लिया, यथापि उसे इसमें बहुत कठिनाइयाँ का

सामना करना पड़ा । उस समय अहिमा और वैराग्य का प्रचार था; ब्राह्मण भी प्राचीन अप्रिहोत्र और यज्ञों का छाड़कर पौराणिक देवी देवताओं का प्रचार कर रहे थे । ऐसी अवस्थाओं में उसके सिद्धांत अधिक लोकप्रिय न हो सके, इसलिये उसके द्वारा वेदों का प्रचार व्यापक रूप से न हो सका * ।

कुमारिल के कुछ समय बाद गंकराचार्य केरल प्रांत के कालपीः गाँव में, ७८८ ई० में, उत्पन्न हुए । उन्होंने बहुत छाटी अवस्था में

शंकराचार्य और ही प्रायः सब प्रथ पढ़ लिए और वे एक बड़े उनके सिद्धांत भारी दार्शनिक विज्ञान बन गए । बौद्धों और जैनों के नास्तिकवाद को वे नष्ट करना चाहते

थे, परंतु साथ ही यह जानते थे कि कुमारिल भट्ट की तरह बहुत सी वातों में जनता के विरुद्ध होने से कुछ नहीं हो सकता । उन्होंने ज्ञानकांड का और अहिमा के सिद्धांतों का आश्रय लेते हुए वेदों का प्रचार किया और सन्यास मार्ग को ही अधिक प्रधानता दी । ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार करते हुए उन्होंने देवों देवताओं की पूजा का विरोध भी नहीं किया । उनके मायावाद और अद्वैतवाद के कारण, जो बौद्धों के विज्ञानवाद से विशेष भिन्न नहीं थे, बौद्ध भी उनकी ओर आकर्षित हुए । इसी लिये वे 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहलाते हैं : उन्होंने उपर्युक्त मंतव्यों को मानकर वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने का बहुत बेग से प्रचार किया ।

उनके दार्शनिक विचारों तथा कार्य का वर्णन हम दर्शन के प्रकरण में करेंगे । वे अपने विचारों और सिद्धांतों का प्रचार प्रायः संपूर्ण भारतवर्ष में धूम धूमकर करते रहे और भिन्न भिन्न मतावलंबियों से बहुत शाखार्थ कर उन्होंने उन्हें परास्त किया । उन्होंने सोचा कि अपने सिद्धांतों का स्थायी रूप से प्रचार करने के लिये स्थिर संस्थाओं की आवश्यकता है, इसलिये भारतवर्ष की चारों

* चिंविंवैद्य; हिस्ट्री आफ मिडिप्युल इण्डिया, जिं०२, पृष्ठ २०६-१२ ।

दिशाओं में उन्होंने एक एक मठ स्थापित किया । सबसे मुख्य मठ दक्षिण में श्रृंगेरी स्थान में, पश्चिम में द्वारिका में, पूर्व की तरफ पुरी में और उत्तर की ओर वदरिकाश्रम में हैं । ये मठ अब तक चले आ रहे हैं । उनके प्रयत्नों से बैद्धों का वहुत हास हुआ । ३२ वर्ष की अवस्था में ही शंकराचार्य का वदरिकाश्रम में देहांत हुआ । इतनी छोटी अवस्था में भी उन्होंने इतना बड़ा कार्य कर दिखाया कि हिंदुओं ने उनको जगद्गुरु की उपाधि देकर सम्मानित किया* :

धार्मिक स्थिति का सिंहावलोकन

तोनां मुख्य मुख्य धर्मों का विवेचन करने के अनंतर उस समय की धार्मिक स्थिति का सिंहावलोकन करना अनुचित न होगा । यद्यपि हमारं निर्दिष्ट काल में भिन्न भिन्न धर्म विद्यमान थे और उनमें कभी कभी संवर्ध भी होता रहा, तो भी धार्मिक असहिष्णुता का भाव नहीं पाया जाता । हिंदू धर्म की विभिन्न शाखाओं में परस्पर भिन्नता होते हुए भी हमें उनमें एकता की एक लहर दीख पड़ती है । ब्रह्मा, विष्णु और शिव के पूजकों में परस्पर एकता के परिणाम-स्वरूप ही पंचायतन पूजा प्रचलित हुई । विष्णु, शिव, रुद्र, देवी और सूर्य सभी देवता एक ही ईश्वर की भिन्न भिन्न शक्तियों के सूचक प्रतिनिधि माने गए, जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं । इससे सब संप्रदायों में एकता के भाव उत्पन्न हो गए । प्रत्यक्ष मनुष्य अपने इन्द्रानुमार किसी भी देवता का उपासक हो सकता था । कन्नौज के प्रतिहार राजाओं में यदि एक वैष्णव था, तो दूसरा परम शैव और तीसरा भगवती का उपासक, तो चौथा परम आदित्य-भक्त । यह धार्मिक महिष्णुता के बल हिंदू धर्म तक ही परिसित न

* च०वि० वैद्य; हिन्दी आफ मिडिप्ल इंडिया; जि० २, पृष्ठ २१३-१७ ।

थी, वस्ति बौद्ध और ब्राह्मण धर्म में भी परस्पर सहिष्णुता आ चुकी थी। कन्नौज के गाहडवालवंशी परम शैव गोविंदचंद्र ने दो बौद्ध भिन्नुओं को विहार के लिये छः गाँव दिए थे। बौद्ध राजा मदनपाल ने अपनी स्त्री को महाभारत सुनानेवाले ब्राह्मण को एक गाँव दिया था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हमारे समय में हिंदू और बौद्धों में पहले का वैमनस्य नष्ट होकर उनमें परस्पर विवाह भी होने लग गए थे। परम शैव गोविंदचंद्र की स्त्री बौद्ध थी। जैन और हिंदू भी परस्पर विवाह संबंध करते थे, जो आज तक भी थोड़ा बहुत प्रचलित है। ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं कि पिता बौद्ध है तो पुत्र वैष्णव और पिता हिंदू है तो पुत्र बौद्ध। दोनों धर्म इतने समीप आ गए थे और उनमें परस्पर इतनी समानताएँ हो गई थीं कि उनकी दंतकथाओं में भंड करना भी कठिन हो गया। जैनियाँ, बौद्धों और हिंदुओं के प्रवर्तक भी हिंदुओं के अवतार माने गए। जैनियाँ, बौद्धों और हिंदुओं के धर्मों में २४ तीर्थकर्ता, २४ बुद्धों और २४ अवतारों की कल्पना में बहुत समानता है। हमारे निर्दिष्ट समय में यद्यपि तीनों धर्म प्रचलित थे, परंतु ब्राह्मण धर्म की सबसे अधिक प्रधानता थी। बौद्ध धर्म तो मृतप्राय हो चुका था। जैन धर्म बहुत परिमित क्षेत्र में रह गया था। हिंदू धर्म में भी शैव मत का प्रचार अधिक बढ़ रहा था। पिछले समय में बहुत से राजा शैव ही थे।

तत्कालीन धार्मिक स्थिति का हमारा अवलोकन तब तक अपूर्ण ही रहेगा, जब तक हम भारतवर्ष में नए प्रविष्ट होनेवाले इस्लाम धर्म

भारत में इस्लाम पर दो चार शब्द न कहें। यद्यपि मुहम्मद कासिम से पहले भी मुसलमानों की कुछ का प्रवेश

चढ़ाइयाँ भारत की तरफ हुई थीं, परंतु इनका यहाँ पाद-प्रवेश नहीं हुआ। आठवीं सदी में सिंध पर मुसलमानों के अधिकार होने के साथ वहाँ इस्लाम का प्रवेश होने लगा। उसके

(३६)

बहुत समय बाद ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में मुसलमान भारत में आए। जहाँ मुसलमान विजेताओं की तलवार ने इस्लाम फैलाने का काम किया, वहाँ हिंदू राजाओं की उदारता भी उसके फैलने में सहायक हुई। राष्ट्रकूट और सोलंकी राजाओं ने भी मस्जिद आदि बनवाने में मुसलमानों को सहायता दी। शाना के शिलारावंशी राजाओं ने पारसियों और मुसलमानों को पर्याप्त सहायता दी थी। मुसलमान अपने साथ नवीन भाषा, नवीन धर्म और नवीन सभ्यता को भारत में लाए*।

सामाजिक स्थिति

प्राचीन भारतीयों के सामाजिक जीवन की सबसे मुख्य संस्था वर्ण-व्यवस्था है। इसी की भिन्नि पर हिंदू समाज का भवन खड़ा है,

जो अत्यंत प्राचीन काल से अनेक बाधाओं का
वर्ण-व्यवस्था सामना करते हुए भी अब तक न टूट सका।

हमारे निर्दिष्ट समय से बहुत पूर्व इस संस्था का विकास हो चुका था। वर्णव्यवस्था का उल्लेख युर्जेंद तक में मिलता है।

यद्यपि वौद्ध और जैन धर्म ने वर्णश्रम-व्यवस्था का विरोध कर इसको बहुत धक्का पहुँचाने का प्रयत्न किया, तथापि यह व्यवस्था नष्ट नहीं की जा सकी और हिंदू धर्म के पुनरभ्युदय के साथ साथ इस संस्था की भी फिर उन्नति हुई। हमारे निर्दिष्ट समय में यह व्यवस्था बहुत अच्छी तरह प्रचलित थी। हुएन्संग चारों वर्णों का उल्लेख करता है*। वौद्ध भिन्नुओं और जैन साधुओं का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। अब हम क्रमशः समाज के सब विभागों पर संक्षेप से विचार करेंगे।

ब्राह्मणों का समाज में सबसे अधिक सम्मान था। शिक्षा और विद्या में यहीं सबसे बढ़े चढ़े थे सब वर्ण इनकी प्रधानता ब्राह्मण और उनके कर्तव्य मानते थे वहुत से कार्य प्रायः ब्राह्मणों के लिये ही सुरक्षित रहते थे। वे शासन-कार्य में भी पर्याप्त भाग लेते थे। प्रायः मंत्री तो ब्राह्मण ही होते थे और कभी कभी वे सेनापति भी बनते थे, अबुर्जेंद उनके विषय में लिखता है—“धर्म और विज्ञान में प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति ब्राह्मण

* वाटर्स आन युवनच्चांग; जि० १, पृ० १६८।

कहलाते हैं। उनमें से बहुत से कवि, ज्येतिषी, दार्शनिक और दैवज्ञ राजा के दरबार में रहते हैं*।” इसी तरह अल्मसऊदी उनके विषय में लिखता है कि ब्राह्मणों का उत्तम और श्रेष्ठ कुल की तरह सम्मान होता है। प्रायः ब्राह्मण ही कुल-क्रम से राजाओं के मंत्री आदि होते हैं† :

ब्राह्मणों के मुख्य कर्तव्य पढ़ना, पढ़ाना यज्ञ करना और कराना, तथा दान देना और लेना था। वौद्ध धर्म के प्रचार के समय वर्णव्यवस्था के शिथिल होने के कारण ब्राह्मणों के हाथ से उपर्युक्त कार्यों में से कई चले गए थे। यज्ञादि के वंद होने से बहुत से ब्राह्मणों की आजीविका नष्ट हो गई थी, इसलिये ब्राह्मण अन्य वर्णों के कार्य भी करने लगे। इसी के अनुसार नई मृतियाँ भी बनीं। वे लोग ज्ञात्रिय और वैश्य का भी काम करने लगे। वौद्ध मत के अनुसार कृषि पाप होने के कारण बहुत से वैश्यों ने वौद्ध होकर कृषि छोड़ दी। यह अवसर देखकर बहुत से ब्राह्मण कृषि पर गुजारा करने लगे। पराशर स्मृति में सब वर्णों को कृषि करने की आज्ञा दी गई है‡। इसके अतिरिक्त उम समय के अनुकूल सब वर्णों को शब्द प्रहण करने का अधिकार भी दिया गया४। इतना ही नहीं, उस समय ब्राह्मण शिल्प, व्यापार और दुकानदारी भी करते थे,

* इलियट हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जिं० १, पृ० ६।

† चिं० विं० वैद्य; हिम्मी आफ मिडिप्युल इंडिया; जिल्द २, पृष्ठ १८१।

‡ पट्कर्मसहिनो विप्रः कृषिकमे च कारयेत् ॥ २ ॥

ज्ञात्रियोपि कृषिं कृत्वा देवान् विप्रांश्च पूजयेत् ॥ १८ ॥

वैश्यः शूद्रस्तथा कुर्यात् कृषिवाणिज्यशिल्पकम् ॥ १६ ॥

अथाय २ :

५ प्राणत्रायं वर्णसंकरे वा ब्राह्मणवैश्यो शब्दमादीयानाम् ।

वर्मिष्टस्मृति, अ० ३ ।

परंतु ऐसा करते हुए भी वे अपने सम्मान का पूरा ख्याल रखते थे। वह नमक, तिल (यदि वह अपने परिश्रम से बोया न गया हो), दूध, शहद, शराब और मांस आदि पदार्थ नहीं बेचते थे । इसी तरह ब्राह्मण सूद-वृत्ति को भी धृणित कार्य समझकर नहीं करते थे । उनके आचार व्यवहार में शुद्धि की बहुत मात्रा थी । उनका भोजन आदि भी अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक शुद्ध तथा सात्त्विक होता था, जिसका वर्णन हम आगे भोजन के प्रकरण में करेंगे । उनमें धार्मिकता और आध्यात्मिकता का विचार बहुत था और वे अपने को अन्य वर्णों से पृथक् और ऊँचा रखने का प्रयत्न करते थे । अन्य वर्णों पर उनका प्रभाव बहुत समय तक बना रहा । राजनियमों में भी उन्हें बहुत रियायत दी जाती थी, वस्तुतः उस समय वर्णों का प्राचीन कर्तव्य-विभाग बहुत शिथिल हो रहा था और सभी वर्ण अपने अपने इच्छानुसार काम करने लग गए थे । पीछे से राजा यंग्य व्यक्तियों को ऊँचे पदों पर नियत करने लगे थे, चाहे वे किसी वर्ण के ही क्यों न हों* ।

अपने निर्दिष्ट समय के प्रारंभ में हम हिंदू समाज को केवल चार वर्णों और कुछ नीची जातियों में बँटा हुआ पाते हैं ११ वीं सदी ब्राह्मणों की उपजातियाँ उल्जन्त्व किया है†, परंतु हमें शिलालेखों से पता लगता है कि उस समय वर्णों में उपजातियाँ बनने लग गई थीं । अलबेन्नी ने जो कुछ लिखा है वह समाज की तत्कालीन स्थिति को ही देखकर नहीं, किंतु उसने जो कुछ पुस्तकों से पढ़ा था,

* चि० वि० वैद्य; हिन्दी आफ मिडिएवल इंडिया; जिल्द २, पृष्ठ १८१—८२ ।

† अलबेन्नीज इंडिया; साचू कृत अङ्गरेजी अनुवाद; जि० १, पृ० १००—१०१ ।

वह भी स्थल स्थल पर लिख दिया है, जिससे उसकी पुस्तक तात्कालिक स्थिति का सच्चा परिचय नहीं देती ।

ब्राह्मण ६०० ई० से १००० ई० तक भिन्न भिन्न जातियों में बँटे हुए मालूम नहीं होते । उस समय तक ब्राह्मणों का भेद शास्त्र और गोत्र का उल्लेख करके ही किया जाता था, जैसा कि १०५० ई० के चैंदलों के तात्रपत्र में भारद्वाज गोत्र, यजुर्वेदीय शास्त्र के विप्रवर ब्राह्मण का उल्लेख है । १०७७ ई० के कलचुरी लेख में, जो गोरखपुर जिले के कहन नामक स्थान से प्राप्त हुआ, ब्राह्मणों के नामों के साथ शास्त्र गोत्रादि के अतिरिक्त उनके निकास के प्रामों का नामाल्लेख है । इसो तरह कई अन्य शिलालेखों में ब्राह्मणों के वासस्थान का ही उल्लंघन मिलता है । वडनगर की कुमारपाल-प्रशंसित (११५१ ई०) में नागर ब्राह्मण का उल्लेख है, कोंकण के वारहवीं सदी के लेख में ३२ ब्राह्मणों के नाम दिए हैं, जिनके गोत्र तो हैं शास्त्र नहीं, परंतु उनमें ब्राह्मणों के उपनाम भी साथ दिए हैं, जो उनके पेशे या स्थानों या अन्य विशेषताओं के कारण बने हुए प्रतीत होते हैं । वारहवीं शताब्दी में ऐसे उपनामों का बहुत प्रयोग होने लगा था, जिनमें से कुछ नाम ये हैं—दीक्षित, राउत, ठकुर, पाठक, उपाध्याय और पट्टवर्धन आदि । इस समय तक भी गोत्र और प्रवर प्रचलित थे, परंतु इन उपनामों की प्रधानता बढ़ती जाती थी । शिलालेखों में हम पंडित, दीक्षित, द्विवेदी, चतुर्वेदी, आवस्थिक, माण्डुर, त्रिपुर, अकोला, डेंडवाण आदि नाम पाते हैं, जो स्पष्ट ही उनके कार्य और वासस्थान से निकले हुए प्रतीत होते हैं । पीछे से इनमें से कितने एक उपनाम भिन्न भिन्न जातियों में परिणत हो गए । यह जाति-भेद क्रमशः बढ़ता गया । इसके बढ़ने में दो तीन अन्य कारणों ने भी बहुत कुछ महायता दी, जैसे कि भोजन में भेद हो जाना । मांसाहारी और शाकाहारी होने से भी

दो बड़े भेद हों गए। भिन्न भिन्न रीति शिवांजीं और विचारों के कारण कई भेद पैदा हो गए। दार्शनिक विचारों में मत-भेद हो जाने के कारण भी भेद बढ़े। इन्हीं कारणों से जाति-भेद बढ़ते बढ़ते आज सैकड़ों जातियां हो गईं। हमारे समय तक ब्राह्मण पंचगौड़ और पंचद्विड़ दो मुख्य शाखाओं में नहीं बँटे थे। यह भेद १२०० के बाद हुआ, जो संभवतः मांसाहार और अन्नाहार के कारण हुआ हो*। ग्यारहवीं सदी में गुजरात के सोलंकी राजा मूलराज ने सिद्धपुर में रुद्रमहालय नामक विशाल शिवालय बनवाया, जिसकी प्रतिष्ठा के समय कन्नौज, कुरुक्षेत्र आदि उत्तरीय प्रदेशों से एक हजार ब्राह्मणों को बुलाया और गाँव आदि दंकर उन्हें बहों रखा। उत्तर से आने के कारण वे 'श्रौदोन्य' कहलाए और गुजरात में बसने के कारण पीछे से उनकी संज्ञा भी द्रविड़ों में हो गई; जिनकी गणना वास्तव में गौड़ों में होनी चाहिए थी†।

अब हम ज्ञात्रियों के संबंध में कुछ विवेचन करते हैं।

ब्राह्मणों की तरह ज्ञात्रियों का भी समाज में बहुत ऊँचा स्थान था। इनके मुख्य कर्तव्य प्रजा-पालन, दान, यज्ञ, अध्ययन आदि

ज्ञात्रिय और उनके प्रायः ये ही होते थे। ब्राह्मणों के साथ अविकर्तव्य रहने से ज्ञात्रिय लोगों—विशेषतः राजकीय

वर्ग—में शिक्षा का प्रचार बहुत अच्छा था। बहुत से राजा बड़े बड़े विद्वान् हुए हैं। हर्षवर्धन साहित्य का अच्छा विद्वान् था। पूर्वीय चालुक्य राजा विनयादित्य गणित का बड़ा पंडित था, जिससे उसे गुणक कहते थे। राजा भोज की विद्वता लोकप्रसिद्ध है।

* चि० वि० वैद्य; हिन्दू आक मिछिएवल हृषिया; जिल्द ३, पृष्ठ ३७५—८१।

† मेरा राजपूताने का इतिहास; जिल्द १, पृष्ठ २१२।

उसने वास्तुविद्या, व्याकरण, अलंकार, योगशास्त्र और ज्योतिष आदि विषयों पर कई उपयोगी और विद्वत्तापूर्ण प्रथ लिखे। चौहान विग्रह-राज (चतुर्थ) का लिखा हुआ 'हरकेलिनाटक' आज शिलाओं पर खुदा हुआ उपलब्ध है। इसी तरह कई अन्य राजाओं के भी प्रथ मिलते हैं। वर्ण-व्यवस्था के विशुद्ध रूप में कायम न रहने तथा बहुत से ज्ञात्रियों के पास भूमि न रहने के कारण वे बंकार हो गए और उन्होंने भी ब्राह्मणों की तरह अन्य पेशे इखितयार करने शुरू किए। इसका एक परिणाम यह हुआ कि ज्ञात्रिय दो श्रेणियों में बँट गए। एक तो वे ज्ञात्रिय जो अब भी अपने कार्य करते थे और दूसरे वे जिन्होंने कृषि आदि दूसरे पेशे शुरू कर दिए थे। इन सुरदाद ने भारत में जो सात श्रेणियाँ बताई हैं, उनमें से सवकुट्रिय और कटरिय संभवतः ये ही दोनों श्रेणियाँ हैं*।

ज्ञात्रिय लोग भी शुरू में वहुधा मद्य नहीं पीते थे। अल्मसऊदी लिखता है कि यदि कोई राजा शराब पी ले, तो वह शासन करने के योग्य नहीं समझा जाता।

हुएन्सेंग के समय तक ज्ञात्रिय भी ब्राह्मणों की तरह जीवन में बहुत उन्नत थे। वह लिखता है—‘ब्राह्मण और ज्ञात्रिय बहुत शुद्ध, बाह्याङ्गरों से दूर, जीवन में सरल और पवित्र तथा मितव्ययी होते हैं।’

प्रारंभ में ज्ञात्रिय भी अधिक वंशों में बँटे हुए नहीं थे। महाभारत और रामायण में सूर्य और चंद्र वंशियों का वर्णन आता है और यह वंश-भेद समय के साथ साथ बढ़ता गया। राजतरंगिणी

* च० च० व० वैद्य; हिन्दी आफ मिडिपुन्ड इंडिया; जिल्द २, पृष्ठ १७६—८०।

† हलिषट; हिन्दी आफ इंडिया; जिल्द १, पृ० २०

में ३६ वंशों का उल्लेख है। अत्र तक भी चत्रिय वर्ग ऐसा रहा है, जिसमें जाति-भेद नहीं है।

वैश्यों के मुख्य कार्य पशु-पालन, दान, यज्ञ, अध्ययन, वाणिज्य, कुर्सीद (व्याज-बृत्ति) और कृषि थे। बौद्ध काल में वर्णव्यवस्था वैश्य और उनका कर्तव्य शिथिल होने से उसका रूपांतर हो गया। बौद्धों और जैनियों के मतानुसार कृषि करना पाप माना गया, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं। इसके अनुसार वैश्य लोगों ने सातवीं सदी के प्रारंभ में ही कृषि को नीच कार्य समझकर छोड़ दिया था। हुएन्तसेंग वैश्यों के विषय में लिखता है कि तीसरा वर्ग वैश्यों या व्यापारियों का है, जो पदार्थों का विनियम करके लाभ उठाता है। चौथा वर्ग शूद्रों या कृषकों का है*।

वैश्यों ने भी कृषि कार्य छोड़कर दूसरे पेशे इखितयार करने शुरू किए। वैश्यों के राजकार्य करने, राजमंत्री होने, सेनापति बनने और युद्धों में लड़ने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। हमारे समय के अंतिम भाग में उनमें जाति-भेद उत्पन्न होने लगा, ऐसा शिलालेखों से पाया जाता है।

सेवा करनेवाले वर्ग का नाम शूद्र था। वह वर्ण अस्पृश्य नहीं था; ब्राह्मण, चत्रिय और वैश्यों की तरह शूद्रों को भी पंच महायज्ञ करने का अधिकार था। ऐसा पतंजलि-कृत महाभाष्य शूद्र और उसके टीकाकार कैयट की (जो भर्तृहरि के पीछे हुआ) टीका—‘महाभाष्यप्रदोष’—से जान पड़ता है†।

* वाटस आन युत्तम्बांग; जिल्द १, पृष्ठ १६८।

† शूद्राणामनिरवसितानाम् २ । ४ । १० ॥ इस सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने लिखा है कि ‘एवं तहि॑ यज्ञात्कर्मणोऽनिरवसितानाम् । अर्थात् जो शूद्र यज्ञ कर्म से बहिष्कृत न हों, वे अबहिष्कृत समझे जावें । इसकी

शनैः शनैः इनके काम भी बढ़ते गए । इसका मुख्य कारण यह हुआ कि हिंदू समाज में वहुन से कायों, कृषि, दस्तकारी, कारीगरी आदि का करना तुच्छ समझा जाने लगा और वैश्यों ने शिल्प का कार्य भी छोड़ दिया । इसलिये हाथ के सब काम शूद्रों ने ले लिए । शूद्र ही किसान, लोहार, राज, रँगरेज, धोबी, तत्क, जुलाहे, कुम्हार आदि हो गए । हमारे निर्दिष्ट समय में ही भिन्न भिन्न पेशों के अनुसार शूद्रों की वहुत जातियाँ बन गईं । किसान तो शूद्र ही कहलाए परंतु दूसरे पेशेवाले, भिन्न भिन्न जातियों में बँट गए । हुएन्तसंग लिखता है—वहुत से ऐसे वर्ग हैं, जो अपने को ब्राह्मण, चत्रिय, वैश्य और शूद्र में से कोई भी नहीं मानते । अलबे रुनी लिखता है—शूद्रों के बाद अन्यजॉं का नंवर आता है, जो भिन्न भिन्न प्रकार की संवा करते हैं और जो चारों वर्णों में नहीं गिने जाते । ये अन्यज आठ श्रेणियाँ (Guilds) में विभक्त हैं—धोबी, चमार, मदारी, टोकरी और ढाल बनानेवाले, मल्लाह, धावर, जंगली पशुओं और पक्षियों का शिकार करनेवाले तथा जुलाहे । चारों वर्णवाले इनके साथ नहीं रहते । शहरों, और गाँवों के पास ये लोग चारों वर्णों से अलग रहते हैं* ज्यों उन्होंने समय गुजरता गया, शूद्रों के अशिक्षित होने से इनका पाच यज्ञों का अनुप्रान भी छूटता गया ।

इन वर्णों के अतिरिक्त हिंदू समाज में दो एक अन्य विभाग भी कायस्थ थे । ब्राह्मण, चत्रिय आदि जो लोग लेखक अर्थात् अहल्कारी का काम करते थे वे कायस्थ कहलाते थे । पहले कायस्थों का कोई अलग भेद नहीं था । कायस्थ

टीका करते हुए कंयट ने लिखा है—गृहाणं पञ्चयज्ञानुष्ठानेऽधिकारोस्तातिभावः । शूद्रोऽपि द्विविधो ज्येः श्राद्धी चैवेवरस्तथा ॥ १० ॥

विष्णुस्मृति, अ० ५ ।

* अलबे रुनीज इंडिया; जिल्द १, पृष्ठ १०१ ।

अहल्कार का ही पर्याय शब्द है, जैसा कि आठवीं सदी के कोटा के पास के कण्ठमत्वा के एक शिलालेख से पाया जाता है। ये लोग राजकार्य में भी भाग लेते थे, क्योंकि सरकारी दफ्तरों में नियत होने के कारण इन्हें बहुत सी गुप्त राजकीय बातें मालूम हो जाती थीं। ये लोग राजकीय पड़्यत्रों और कृतनीतियों में भी भाग लेते थे, इसी लिये याज्ञवल्क्य रम्भित में राजाओं को विशेषकर इनसे प्रजा की रक्षा करने का आदेश दिया गया है।

पीछे से अन्य पेशेवालों के समान इनकी भी एक जाति बन गई, जिसमें ब्राह्मण, चत्रिय आदि का मिश्रण है। सूरजधज कायस्थ अपने को शाकद्वारी (मग) ब्राह्मण बतलाते हैं और बालभ कायस्थ चत्रिय जाति के हैं, जैसा कि सोढ़दल रचित ‘उदयसुंदरीकथा’ से पाया जाता है।

भारत में अमृश्य जातियाँ केवल दो ही—चांडाल और मृतप—थीं। चांडाल शहर के बाहर रहते थे; शहर में आते ममय वे बाँस

अंश्यज

की लकड़ी को जमीन पर पीटते रहते थे और जंगलों में से पशुपत्नियों को मारकर उनके मांस के विक्रय से अपना निर्वाह करते थे। मृतप शमशानों की चौकी करते और शवों के कफन आदि लेते थे।

हिंदू समाज के इन भिन्न भिन्न विभागों के मन्त्रिप्र वर्णन के बाद इन सब वर्णों के पारम्परिक संबंध पर कुछ विचार करना आवश्यक वर्णों का परस्पर संबंध प्रतीत होता है। इन चारों वर्णों में संबंध अच्छा था और परस्पर विवाह संबंध होते थे।

सर्वण विवाह श्रेष्ठ होने पर भी अन्य वर्णों से विवाह करना धर्म-शास्त्र के प्रतिकूल न था। चत्रिय, वैश्य और शूद्र-कन्या से भी ब्राह्मण विवाह कर सकता था। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण के लिये शूद्र-कन्या से विवाह का नियंध किया था, परंतु हमारे निर्दिष्ट

समय तक यह भी विद्यमान था। बाण ने शूद्र स्त्री से पैदा हुए ब्राह्मण के पुत्र पारशव का उल्लेख किया है। इसी तरह मंडोर के प्रतिहारों के वि० सं० ८४४ (ई० सं० ८३७) और ८१८ (ई० सं० ८२१) के लेखों में ब्राह्मण हरिश्चंद्र का ज्ञात्रिय-कन्या भद्रा से विवाह होने का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण कवि राजशेखर ने भी चौहान कन्या अवंतिसुंदरी से विवाह किया था। दक्षिण में भी ज्ञात्रियों की स्त्री से ब्राह्मणों के विवाह होने के उदाहरण मिलते हैं। गुलबाड़ा गाँव के पास की बौद्ध गुफा के एक लेख में वल्लुरवंशीय ब्राह्मण सोम का ब्राह्मण और ज्ञात्रिय कन्याओं से विवाह होने का वर्णन मिलता है*। ज्ञात्रिय, वैश्य और शूद्र की कन्या से विवाह कर सकता था, परंतु ब्राह्मण की कन्या सं नहीं। दंडी कृत 'दशकुमारचरित' से पाया जाता है कि पाटलिपुत्र के वैश्ववणी की पुत्री सागरदत्ता का विवाह कोसल के राजा कुसुमधन्वा के साथ हुआ था†। ऐसे और भी कई उदाहरण मिलते हैं। इसी तरह वैश्य शूद्र की कन्या से विवाह कर सकता था। सारांश यह है कि हमारे निर्दिष्ट समय में अनुलोम विवाह की प्रथा थी, प्रतिलोम की नहीं। ये संवंध उन शूद्रों के साथ, जिनको पंच महायज्ञों का अधिकार नहीं था, नहीं होते थे।

प्राचीन काल में पिता के वर्ण से पुत्र का वर्ण माना जाता था। ब्राह्मण का किसी भी वर्ण की कन्या से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण ही समझा जाता था, जैसे कि ऋषि पराशर के धीरोरी से उत्पन्न पुत्र वेदव्यास और रेणुका (ज्ञात्रिय कन्या) से उत्पन्न जमश्विनि के पुत्र परशुराम ब्राह्मण कहलाए। पीछे से यह प्रथा बदल गई, अर्थात् माता के वर्ण के अनुसार पुत्र का वर्ण माना जाने लगा। ज्ञात्रिय-कन्या से

* नागरी-प्रचारिणी पत्रिका; नवीन ऐस्करण; भाग ६, पृ० १६७—२००।

† दशकुमारचरित; विभृत कथा।

(५०)

उत्पन्न ब्राह्मण का पुत्र उत्तिय ही माना जाता था, जैसा कि शंख और उशनस आदि स्मृतियां से पाया जाता है* ।

परस्पर के ये विवाह-संबंध शनैः शनैः कम होते गए और फिर अपने अपने वर्णों में होने लगे । हमारे निर्दिष्ट काल के पीछे यह प्रवृत्ति बढ़ते बढ़ते केवल अपनी उपजातियां तक ही परिसित रह गई† ।

आज की भौतिक प्राचीन काल में भिन्न भिन्न वर्णों में छूतछात और साथ खाने पीने का परहेज नहीं था । ब्राह्मण अन्य सब वर्णों के हाथ

का भोजन खाते थे जैसा कि व्यास-स्मृति के छूतछात “नापितान्वयमित्रार्द्धसारिणो दासगोपाकाः ।

शुद्धाण्यामव्यमीर्षा तु भुक्त्वाऽन्नं नैव दुष्यति” से पता लगता है‡ । वर्तमान भेद-भाव हमारे समय के अंतिम भाग में भी प्रचलित नहीं हुआ था । अलबेहनी लिखता है कि चारों वर्णवाले इकट्ठे रहते और एक दूसरे के हाथ का खाते पीते थे§ । संभव है कि यह कथन उत्तरी भारत से संबंध रखता हो । दक्षिणी भारत में शाकाहारियों ने मांसाहारियों के साथ खाना छोड़ दिया था । यह भेद-भाव शनैः शनैः सभी वर्णों में बढ़ता गया ।

भारतवर्ष ने केवल आध्यात्मिक उन्नति की ओर ही ध्यान नहीं दिया, उसने भौतिक उन्नति की तरफ भी पर्याप्त ध्यान दिया था ।

भारतीयों का भौतिक प्राचीन भारतीय यदि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ आदि आश्रमों में तपस्या को मुख्य स्थान देते जीवन थे, तो गृहस्थाश्रम में जीवन के सांसारिक आनंद भी भोगते थे । संपत्र लोग बड़े बड़े आलीशान मकानों में

* राजपूतान का इतिहास; जिल्ड १, पृष्ठ १४७—४८ ।

† चिं ० विं ० वैद्य; हिस्ट्री आफ मीडिएवल इंडिया; जिं ० १, पृष्ठ ६१—६३, जिं ० २, पृ० १७८—८२ ।

‡ व्यासस्मृति—अध्याय ३, श्लोक ४५ ।

§ अलबेहनीज् इंडिया; जिल्ड १, पृ० १०१ ।

(५१)

रहते थे। खाने, पीने, सोने, बैठने, अतिथियों के रहने, संगीत, वाद्य आदि के लिये भिन्न भिन्न कमरे होते थे। कमरों में वायु संचार के लिये अच्छा प्रबंध रहता था। शहर के सामाजिक जीवन को आनंदमय बनाने के लिये समय समय पर बड़े बड़े मेले हुआ करते थे, जहाँ लोग हजारों की तादाद में सम्मिलित होते थे। हर्ष के समय हुएन्टसंग ने प्रति पाँचवें वर्ष होनेवाले धर्म-सम्मेलन का वर्णन किया है, जिसमें हर्ष भिन्नकों को दान दिया करता था। इसके अतिरिक्त अन्य शुभावसरों पर भिन्न भिन्न स्थानों में भी मेले हुआ करते थे। ऐसे धार्मिक मेले केवल आनंद के लिये नहीं होते थे, परंतु आर्थिक दृष्टि से भी इनका महत्व बहुत था। इन मेलों में दूर दूर से व्यापारी आते थे और सामान खरीद फरारूत होता था। मेलों की यह प्रथा आज भी भारत में विद्यमान है। इन मेलों में समारोह बहुत होता था। बहुत से त्यौहारों के अवसरों पर भी मेले किए जाते थे, जैसा कि रक्षावली में वसंतोत्सव के उल्लेख से पाया जाता है। हिंदुओं में त्यौहारों का प्राधान्य है, वे उन्हें बहुत समारोह से मनाते थे। इन मेलों का हिंदुओं के सामाजिक जीवन में बहुत भाग था। होली के उत्सव में पिचकारी द्वारा रंग फेंकने का भी रिवाज था, जैसा कि हर्ष ने रक्षावली में वर्णन किया है*। लोगों के दिल बहलाने के लिये नाटक-गृह या प्रेक्षागृहों का उल्लेख भी मिलता है। इसी तरह गान-भवनों, चित्रशालाओं आदि का भी वर्णन मिलता है, जिनमें नागरिक जाकर आनंद करते थे। नाटक, नृत्य, संगीत और चित्रकला का विकास कितना हो चुका था†, इस पर आगे प्रकाश छाला

* धारायंत्रविमुक्तसंततपयः पूरप्लुतं सर्वतः ।

सद्यः सांद्रविमर्दकदंमकृतक्रीडे लपां प्रांगणे ॥ ११ ॥

रक्षावली; अंक १।

† राधाकुमुद मुकर्जी; हृष्ण, पृ० १३५--७३ ।

जायगा । कभी कभी उपवनों में बड़े बड़े भोजों की भी व्यवस्था की जाती थी, जिनमें बहुत से स्त्री-पुरुष सम्मिलित होते थे । लोग तोता मैना आदि पक्षियाँ का पालने के शौकीन थे । वे मुर्गें, तीतरों, भैंसों, मेडों और हाथियों की परस्पर लड़ाई कराकर विनोद करते थे । बड़े बड़े मल्ल कुश्ती भी लड़ते थे । सवारी के लिये घोड़ों, हाथियों, रथों और पालकियों का प्रयोग होता था । जल-विहार भी बहुत होता था, जिसमें नौकाओं का प्रयोग किया जाता था । जल-विहार में स्थियाँ और पुरुष सभी सम्मिलित होते थे । स्त्री पुरुष मिलकर झूला झूलते थे । दोलोत्सव विशेषतः वर्षा ऋतु में हुआ करता था । इस प्रथा का आज भी प्रायः सारे भारत में प्रचार है । इन सब आनंदप्रद उत्सवों और प्रथाओं के अतिरिक्त शतरंज, चौपड़ आदि खेल भी खेले जाते थे । उस समय जुए का भी बहुत प्रचार था, परंतु उस पर निरीक्षण रहता था । दूत-गृहों पर सरकारी कर लगता था, जैसा कि शिलालेखों आदि से पाया जाता है* ।

क्षत्रिय लोग आखेट भी बहुत करते थे । राजा और राजकुमार अपने दल बल के साथ शिकार करने जाया करते थे । यह शिकार तीर, भालों आदि से होता था । शिकार में कुत्ते आदि भी साथ रहते थे ।

कुछ विद्वानों का ख्याल है कि हर्ष के समय तक भारत में सीनं की कला का प्रचार नहीं हुआ था† । वे अपने पक्ष की युक्ति में

वस्तु हुएन्ट्संग का एक कथनन्[‡] पेश करते हैं; परंतु

उनका यह मत ध्रांतिपूर्ण है । भारत में सब प्रकार के शीत, उष्ण और शीतोष्ण प्रदेश होने के कारण भिन्न भिन्न

* वि० स० १००८ (ई० स० ६२१) के उद्यपुर के निकट के सारणेश्वर में लगे हुए प्राचीन शिलालेख से ।

† चि० वि० वैद्यः; दिस्त्री आक मिडिएवल हैंडिया; जि० १, पृ० ८६ ।

‡ वाटर्स आन युवनच्चांग; जि० १, पृ० १४८ ।

स्थानों में अत्यंत प्राचीन काल से आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे । वेदों तथा ब्राह्मण ग्रंथों में सुई का नाम ‘सूर्ची*’ या ‘बेशी†’ मिलता है । तैत्तिरीय ब्राह्मण में सुई के तीन प्रकार की अर्थात् लोहे, चाँदी, और सोने की होने का उल्लेख है‡ । ऋग्वेद में कैंची को ‘मुरिजुः४ कहा है । सुश्रुत संहिता में वारीक डोरे से सीने ‘सीव्येत् सूक्ष्मेण सूक्ष्मेण’ का वर्णन है । रंशमी चोगे को ‘तार्य +’ और ऊनी कुरते को ‘शामूल x’ कहते थे । ‘द्रापिणी’ भी एक प्रकार का सिया हुआ वस्त्र था, जिसके विपय में सायण लिखता है कि वह युद्ध के समय पहना जाता था । सिर्फ कपड़ा ही नहीं, चमड़ा भी सिया जाता था । चमड़े की भस्त्रा (थैली) का भी वर्णन वैदिक माहित्य तक में मिलता है ।

अपने निर्दिष्ट काल से पूर्व की इन वातों को लिखने से हमारा अभिप्राय यही सिद्ध करना है कि हमारे यहाँ सीने की कला बहुत प्राचीन काल से विद्यमान थी ।

हमारे निर्दिष्ट समय में खियों का मामूली वस्त्र अंतरीय अर्थात् साड़ी थी, जो आधी पहनी और आधी आँढ़ी जाती थी । बाहर जाने के समय उस पर उत्तरीय (दुपट्ठा) रहता था । खियाँ नाचने के समय लहँगे जैसा जरी के काम का वस्त्र पहनती थीं, जिसका नाम ‘पंशम्’ था ॥ । मशुरा के कंकाली टीले से मिली हुई

* ऋग्वेद २ । ३२ । ४ ॥

† वही; ७ । १८ । १४ ॥

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ६ । ६ ॥

§ ऋग्वेद ८ । ४ । १६ ॥

+ अथर्ववेद १८ । ४ । ३१ ॥

× जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १ । ३८ । ४ ॥

¶ ऋग्वेद १ । २५ । १२ ॥

|| ऋग्वेद २ । ३ । ६ ॥

एक शिला पर रानी और उसकी दासियों के चित्र अंकित हैं। रानी लहँगा पहने और ऊपर उत्तरीय धारण किए हुए है*। स्मिथ ने अपनी पुस्तक में एक जैनमूर्ति के नीचे दो श्रावक और तीन श्राविकाओं की खड़ी मूर्तियों के चित्र दिए हैं। ये तीनों खियाँ लहँग पहने हुए हैं†। ये लहँगे आज के लहँगों के समान ही हैं। दक्षिण में, जहाँ लहँगे का रिवाज नहीं है, आज भी नाचते समय खियाँ लहँगा पहनती हैं। खियाँ छाँटवाले कपड़े भी पहनती थीं, जैसा कि अजंटा की गुफा में बच्चे को गोद में लिए हुए एक श्याम वर्ण की खीं के सुंदर चित्र से ज्ञात होता है। उसमें खीं कमर से नीचे तक आधी बाँहवाली सुंदर छाँट की अँगिया पहने हुई है‡। ड्यापारी लोग रुई के चेहरे और कुरते भी पहनते थे। दक्षिण के लोग सामान्य रूप से दो धोतियों से काम चलाते थे। धोतियों में सुंदर सुंदर किनारा भी होता था। एक धोती पहनते थे और एक ओढ़ते थे। कश्मीर आदि की तरफवाले कछनी (Halfpant) पहनते थे§।

इन कपड़ों में विविधता, सुंदरता और सफाई की ओर भी बहुत ध्यान दिया जाता था। हुएन्ट्संग ने रुई, रेशम तथा ऊन के वस्त्रों का वर्णन किया है||। राज्यश्री के विवाह के लिये तैयार कराए गए वस्त्रों का वर्णन करते हुए बाण लिखता है—रेशम, रुई, ऊन, साँप की केंचुली के समान महीन, श्वास से डड़ जानेवाले, स्पर्श से ही अनुमेय और इंद्रधनुष के समान रंगवाले कपड़ों से घर भर गया

* स्मिथ; मधुरा-ऐटिकिवटीज; प्लेट १४।

† वही; प्लेट ८५।

‡ स्मिथ; आक्सफर्ड; हिस्ट्री आफ इंडिया; पृ० १५६।

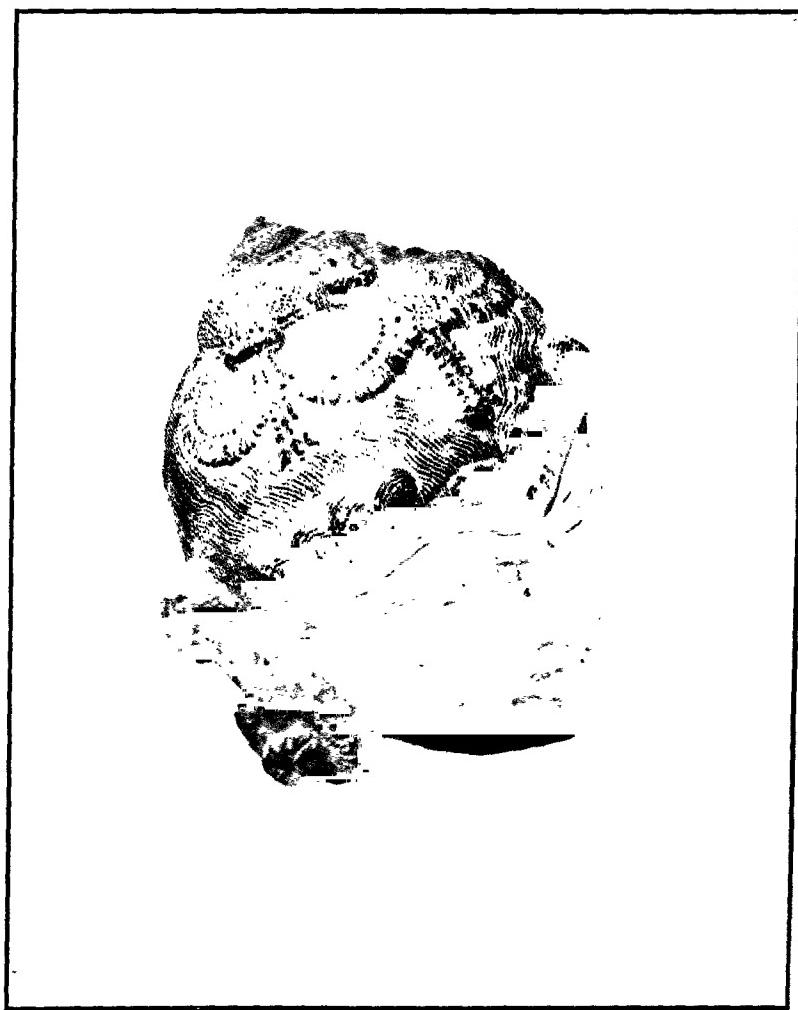
§ राधाकृष्णनुष; हर्ष; पृ० १७०—७।

|| रास बील; बुद्धिस्त रैकर्ड्स आफ दी बेस्टर्न वर्ल्ड; जिल्द १, पृ० ७५।



(१४) छोट की अंगिशा पहरी हुड़ मां का चित्र
अंजेला की गुफा

पृष्ठ ५४



(१५) भूपणादि से अन्तर्कृत स्त्री का पिर
राजपूताना म्यूजियम्, अजमेर]





(१६) खो के निर का केशविन्यास
[राजपूताना रथजियम, अजमेर]

(५५)

था* । खियाँ प्रायः रंगीन कपड़े पसंद करती थीं । बैद्ध साधु प्रायः लाल, हिंदू संन्यासी भगवा और जैन (श्वेतांवर) साधु श्वेत या पीला कपड़ा पहनते थे । विधवाएँ प्रायः सफेद कपड़े पहनती थीं । राजा लोग सिर पर रबजटित मुकुट धारण करते थे । साधारण लोग पगड़ी (उष्णीष) बांधते थे । बालों के शृंगार की तरफ भी काफी ध्यान दिया जाता था । पुरुष बड़े बड़े बाल रखते थे । खियाँ भिन्न भिन्न प्रकार के अत्यंत सुंदर केश-विन्यास करती थीं, जिनका पता उस समय की बनी हुई मूर्तियों से लगता है । बालों का पीछे जूँड़ा भी बाँधा जाता था, जिस पर सुगंधित फूल लगाए जाते थे; सिर पर तरह तरह से मोतियों की लड़ें और रबजटित आभरण भी धारण किए जाते थे । ब्राह्मण लोग सिर और दाढ़ी के बाल कटवाते थे । लक्ष्मिय लोग लंबी लंबी दाढ़ी रखते थे, जैसा कि बाण के एक सेनापति के वर्णन से पता लगता है । बहुत से लोग पैरों में जूते नहीं पहनते थे† ।

शरीर को सजाने के लिये गहनों का भी बहुत प्रयोग होता था । पुरुष और खियाँ दोनों ही गहनों के शौकीन थे । हुएन्तसंग लिखता

है कि राजा और संपन्न लोग विशेष आभूषण
आभूषण

पहनते हैं । अमूल्य मणियों और रबों के हार, अङ्गूठियाँ, कड़े और मालाएँ उनके आभूषण हैं† । सोने चाँदी के रबजटित भुजबंद, सादे या मकराकृति सोने के कुँडल आदि बहुत से आभरण पहने जाते थे । कभी कभी खियाँ कानों के नीचे के भाग

* चौमैरच यादैश्च दुकूलैश्च लालातनुजैरचांशुकैरच नैत्रैरच विर्मोक्षिव-
भैर्नैश्वासहायैः स्पर्शानुमेयैः बासोभिस्सर्वतः स्फुरदिंदायुधसः खैरिच सच्छा-
दितम् ।

हर्वचरित, पृ० २०२-३ ।

† चिऽविऽवैश्च; हिस्टी आफ मिडिप्वल इंडिया, जिल्द, १, पृ० ६२—६३ ।

‡ वाटर्स आन युवनच्चांग; जिं १, पृ० २१ ।

को दो विभागों में छिदवाती थीं और प्रत्येक भाग में छेद कराकर उनके बीच तार डलवाती थीं जिसमें सोने आदि की कई कड़ियाँ रहती थीं। कान के नीचे के भाग को छेदकर उसमें भिन्न भिन्न प्रकार के आभूपण पहनने की रोति तो उनमें साधारण सी थी। ऐसे छिदे हुए कानवाली खियों की मूर्तियाँ कई अजायबधरों में संगृहीत हैं। पैरों में भी सादे या बुँधरूवाले जंवर पहने जाते थे, हाथों में कड़े और शंख तथा हाथीदाँत की तरह तरह के कामवाली चूड़ियाँ, बाहु पर भिन्न भिन्न प्रकार के भुजबंद, गले में उत्तम और बहुमूल्य हार और अँगुलियाँ में भिन्न भिन्न प्रकार की अँगूठियाँ पहनी जाती थीं। स्तन कहीं खुले, कहीं पट्टी बँधे हुए और कहीं चोली से हँके हुए रहते थे। संपन्न खी पुरुष सुगंधित पुष्पों की मालाएँ भी पहनते थे। चांडालों की खियाँ पैरों में रक्कजटित गहने पहन सकती थीं*। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार गहने पहनता था। किसी को कुछ पहनने की मनाई नहीं थी। नश और बुलाक का उल्लंख प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता; संभव है, यह मुसलमानों से लिया गया हो।

विद्वान् लोग भी भिन्न भिन्न प्रकार की साहित्य-चर्चाओं द्वारा विनोद किया करते थे। ऐसी साहित्य-चर्चाएँ राजसभाओं या विद्वानों की मंडलियों में होती थीं। बाणभट्ट अपनी 'कादंबरी' में राजसभा में कुछ साहित्यचर्चाओं—काव्यप्रबंध की रचना, आख्यानक कथाएँ, इतिहास और पुराणों के श्रवण, संगीत, अक्षर-च्युतक, मात्राच्युतक, विदुमती, गूढ़ चतुर्थपाद, प्रहेलिका—आदि का वर्णन करता है†।

* कादंबरी में चांडाल-कन्या का वर्णन।

† चिंविंवैद्य; हिस्ट्री आफ मिडिएवल इंडिया; जिल्द २, पृ० १८७-८८।

‡ कादंबरी; पृ० १४, निर्णयसागर संस्करण।

भोजन में शुद्धि और सफाई का बहुत खयाल रखा जाता था । इत्सिंग ने इस संवध में बहुत कुछ लिखा है, हुएन्सिंग ने लिखा है कि—“भारतीय स्वयं ही पवित्र रहते हैं, भोजन किसी दबाव के कारण नहीं । भोजन के पूर्व वे स्नान करते हैं । उच्छिष्ट भोजन पीछे किसी को नहीं खिलाया जाता । भोजन के पात्र एक के बाद दूसरे को नहीं दिए जाते । मिट्टी और लकड़ी के पात्र एक बार के प्रयोग के बाद प्रयुक्त नहीं होते । सोने, चाँदों, ताँबे आदि के पात्र शुद्ध किए जाते हैं* ।” यह शुद्धि आज भी पर्याप्त रूप से ब्राह्मणों आदि में विद्यमान है, यद्यपि अब इस पर कुछ कम ध्यान दिया जाने लगा है ।

भारतीयों का भोजन माधारणतया गेहूँ, चावल, ज्वार, वाजरा, दूध, घी, गुड़ और शक्कर था अल् इदरिसी अनहिलबाड़े के प्रसंग में लिखता है—‘वहाँ के लोग चावल, मटर, फलियाँ, उड्ढ, मसूर, मछली और अन्य पशुओं को, जो स्वयं मर गए हों, खाते हैं, क्योंकि वे कभी पशु-पक्षियों को मारते नहीं। महात्मा बुद्ध से पूर्व मांस का भी प्रचार बहुत था । जैन और बौद्ध धर्म के कारण शनैः शनैः यह कम होता गया; हिंदू धर्म के पुनरभ्युदय के समय जब बहुत से बौद्ध हिंदू हुए, तो अहिंसा और शाकाहार का धर्म भी साथ लाए । हिंदू धर्म में मांसाहार पाप समझा जाने लगा । मांस के प्रति बहुत विरक्ति हो गई थी । ममऊदी लिखता है कि ब्राह्मण किसी पशु का मांस नहीं खाते । स्मृतियों में भी ब्राह्मणों के मांस न खाने का विधान होने पर भों कुछ पिछली स्मृतियों में श्राद्ध के समय मांस खाने की आज्ञा दी गई है । इस पर व्यास-स्मृति में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि श्राद्ध में मांस न खानेवाला

* वाटर्स आन युवनच्चांग; जिल्ड १, पृष्ठ ११२ ।

+ चिं ० वि० वैद्य; हिस्ट्री आफ मिडिनल इंडिया; चिं २, पृष्ठ १६२ ।

(५८)

ब्राह्मण पतित हो जाता है*। शनैः शनैः मांस खाने की प्रवृत्ति बढ़ती गई और ब्राह्मणों के एक भाग ने मांसभक्षण आरंभ कर दिया। ज्ञानिय और वैश्य भी मांस खाते थे। हरिण और भेड़ चकरी के मांस के अतिरिक्त प्रायः अन्य मांस निपिछ थे। कभी कभी मछली भी खाई जाती थी। प्याज और लहसुन का प्रयोग वर्जित था और उनके खानेवाले प्रायश्चित्त के भागी समझे जाते थे।

उत्तरीय भारत की अपेक्षा दक्षिण में मांस का प्रचार बहुत कम था। चाँडाल सब प्रकार के मांस खाते थे, इसलिये वे सबसे अलग रहते थे।

मद्य-पान का प्रचार भी प्रायः नहीं था। द्विजां को तो शराब बेचने की भी आज्ञा नहीं थी। ब्राह्मण तो मद्य विलकुल नहीं पीते थे। अलू मसऊदी ने राजाओं के विषय में लिखा है कि यदि कोई राजा मदिरा पी ले, तो वह राज्य करने के योग्य नहीं समझा जाता था, परंतु शनैः शनैः ज्ञानियों में मदिरा का प्रचार बढ़ता गया; अरबी यात्री सुलैमान लिखता है कि भारतीय शराब नहीं पीते। इसका कथन है कि जो राजा शराब पी ले, वह वास्तव में राजा नहीं है। आसपास में आपस के लड़ाई बखेड़े होते रहते हैं, तो वह राजा जो कि मतवाला हो, भला क्योंकर राज्य का प्रबंध कर सकता है। वात्स्यायन के कामसूत्र से मालूम होता है कि श्रीमंत नागरिक लोग बाग बगीचों में जाते और वहाँ शराब भी पीते थे।

उस समय स्वच्छता का विचार अवश्य था, परंतु परस्पर का भोजन निपिछ न था। छ्रूत्वात का विचार वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ पीछे से बढ़ा।

* नाशनीयाद्वाहणो मांसमनियुक्तः कथं चन ।

क्रतौ श्राद्धे नियुक्तो वा अनश्वन् पतति द्विजः ॥

† सुलैमान सौदागर; पृ० ७८ (नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित) ।

ऊपर लिखे हमारे वर्णन का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि भारतीय केवल भौतिक जीवन की तरफ बढ़े हुए थे। उनका आध्यात्मिक जीवन भी बहुत उन्नत था। बहुत सी धार्मिक वातें उनके जीवन का अंग बनी हुई थीं। पंच महायज्ञ गृहस्थी के लिये आवश्यक कर्तव्य थे। अतिथि-सत्कार तो बहुत बढ़ा हुआ था। यज्ञों में पशु-हिंसा वौद्ध धर्म के कारण कम हो चुकी थी। उसके साथ यज्ञों का होना भी अवश्य कम हो गया था, परंतु हिंदू धर्म के अभ्युदय के साथ फिर यज्ञ आरंभ हो गए थे। हमारे निर्दिष्ट काल में बड़े बड़े यज्ञों का उल्लंख बहुधा नहीं मिलता।

हिंदू समाज जहाँ इतना अधिक उन्नत था, वहाँ उसमें, किसी न किसी रूप में, दास-प्रथा भी विद्यमान थी। दास-प्रथा हमारे निर्दिष्ट

समय से बहुत काल पूर्व से चली आती थी।
दास-प्रथा

मनु और याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियाँ में दास-प्रथा का वर्णन है। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर (बारहवीं शताब्दी) ने पंद्रह प्रकार के—गृहजात (घर की दासी से उत्पन्न), क्रीत (खरीदा गया), लब्ध (दानादि में मिला हुआ), दायादुपागत (वंशपरंपरागत), अनाकालभृत (दुर्भक्ष में मरने से रक्षित), आहित (धन देकर अपने पास रखा हुआ), ऋणदास (कर्ज में रखा हुआ), युछप्राप्त (लड़ाई में पकड़ा हुआ), पणेजित (जुए आदि में जीता हुआ), प्रत्रज्यावसित (साधु होने के बाद बिगड़कर दास बना हुआ), कृत (समय की शर्त के साथ रखा हुआ), बदवाहृत (घर की दासी के लोभ से आया हुआ) और आत्मविक्रिता (अपने आपको बेचनेवाला)—दासों का उल्लंख किया है*। दास लोग जो कुछ कमाते थे उस पर उनके स्वामी

* गृहजातस्था कीता लक्ष्यो दायादुपागतः ।

अनाकालभृतस्तद्वाहितः स्वामिना च यः ॥

(६०)

का ही अधिकार होता था ; कुछ लोग दासों की चोरी करके उनको बेचते भी थे ।

यहाँ की दास-प्रथा अन्य देशों की दास-प्रथा की भाँति कल्पित, वृण्णित और निन्दनीय नहीं थी । ये दास घरों में परिवार के एक अंग की तरह रहते थे । त्यौहार आदि शुभ अवसरों पर दासों पर भी विशेष कृपा होती थी । जो दास अच्छा कार्य करते थे, उन पर स्वामी बहुत अधिक कृपा करते थे । राज्य की ओर से दासों के लिये विशेष दिया के नियम बने हुए थे । याज्ञवल्क्य समृद्धि में लिखा है कि जबर्दस्ती दास बनाए हुए और चोरों द्वारा खरीदे गए दासों को यदि स्वामी मुक्त न करे तो राजा उन्हें स्वतंत्र करादे । किसी कठिन अवसर पर स्वामी के प्राण बचानेवाला भी मुक्त कर दिया जाता था* । नारदसमृद्धि में तो यहाँ तक लिखा है कि स्वामी के प्राण बचानेवाले को पुत्र की तरह जायदाद का भाग भी दिया जाय । जो कर्ज आदि लेकर दास बनते थे, वे स्वामी से लिया हुआ सब ऋण चुकाकर चाहे जब मुक्त हो सकते थे । इसी तरह अन्य प्रकार के दास भी मुक्त होते थे । अनाकालभृत दो गौवें देकर, आहित धन देकर; युद्धप्राप्त, स्वयं संप्रतिपन्न और पर्णोजित दास कोई उत्तम सेवा कर या अपने स्थान पर प्रतिनिधि देकर मुक्त हो

मेऽन्नितो मङ्गतश्चर्णायुदप्राप्तः पर्णे जितः ।

तत्राहमित्युपगतः प्रव्रज्यावसितः कृतः ॥

भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव दडवाहनः ।

विकेता चान्मनः शास्त्रे दास्याः पञ्चदशस्मृताः ।

मिताद्वरासमहितः पृ० २४६ ।

* बलादासीकृतश्चौरं वैकीतश्चापि मुच्यते ।

स्वामिप्राणप्रदो भक्त व्यागात्त्रिक्षयादपि ॥

वही; पृ० २४६ ।

सकते थे* : मितान्नरा में उस समय दास के मुक्त करने की विधि का भी उल्लेख है। स्वामी दास कं कंधे से पानी का भरा हुआ घड़ा उठाता और उसे तोड़कर अक्षत, पुण्य आदि दास पर फेंकता तथा तीन बार 'अब तू दास नहीं है', यह कहकर उसे मुक्त कर देता। यहाँ दास विश्वासपात्र निजी सेवक मम्भे जाते थे, उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं होता था। ऐसी स्थिति में चीनी या अरब यात्रियों को हमारे यहाँ के संवकों और दासों में अंतर मालूम नहीं पड़ा, इसी से उन्होंने दास-प्रथा का उल्लेख नहीं किया।

साहित्य और विज्ञान की अत्यंत उन्नति होते हुए भी साधारण जनता में वहम बहुत थे। लोग भिन्न भिन्न जादू टोनों तथा भूत बहम प्रेत आदि में विश्वास करते थे। जादू टोनों की प्रथा अत्यंत प्राचीन काल से भारतवर्ष में विद्यमान थी, अश्ववेद में अभिचार, सम्मोहन, पीड़न, वशीकरण, मारण आदि का वर्णन है। राजा के पुरोहित अश्ववेद के विद्वान् होते थे। शत्रुओं को नष्ट करने के लिये राजा जादू और टोनों का भी प्रयोग कराते थे; हमारे समय में भी इनका बहुत प्रचार था। बाण ने प्रभाकरवर्धन की वीमारी के समय लोगों का पिशाच-वाधा मानना और उनका उपाय करना भी लिखा है†। कादंबरी में भी बाण ने पुत्र-प्राप्ति के लिये विलासवती का जादू के मंडलों में

* मितान्नरा सहित; पृष्ठ २४६—२७।

† स्व' दासमिच्छेदः कर्तु नदासं प्रीतमानसः ।

संक्षादादाय तस्यासौ भिंचात्कुम्भं सहाम्भसा ॥

नाचनाभिः सपुष्पाभिर्मूर्धन्यज्ञिवाकिरेत् ।

श्रदाम इत्यथेऽन्वता त्रिः प्राङ् मुखं तपत्वामृजेत् ॥

वही; पृ० २२०।

‡ हर्षचरित; पृ० १५४, निर्णयमागर मंस्करण।

दिक्पालों को प्रसन्न करने, तावीज पहनने और गड़ बाँधने, गोदड़ां को मांसपिंड खिलाने तथा शकुन जाननेवालों का आदर करने का उल्लेख किया है* । ऐसे ही गर्भ के समय उसकी भूतों से रक्षा करने के लिये पलंग के नीचे राख के मंडल बनाने, गोरोचन से भोजपत्र पर लिखे मंत्रों के यंत्र बाँधने, कात्यायनी से रक्षा के लिये मोरपंखों के उरसने, सफेद सरसों के विवरने आदि क्रियाओं का का भी बाण ने वर्णन किया है† । भवभूति ने 'मालतीमाधव' में इष्टसिद्धि के लिये अधोरघंट द्वारा बलिदान के लिये मालती को देवी के मंदिर में लं जाने का उल्लेख किया है । 'गौडवहो' में भी देवी की तुष्टि के लिये मनुष्यों और पशुओं की वलि का वर्णन है । इन सब वातों से पाया जाता है कि हमारे निर्दिष्ट समय में जादू टोनों की प्रथा विद्यमान थी; लोग भूत प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि पर विश्वास करते थे । राजा लोग अपने शत्रु पर कृत्या (मारण) और मंत्रों द्वारा घावों के आराम कराने का प्रयोग भी करते थे, जैसा कि सोमेश्वर कवि के सुरश्रोत्सव काव्य से जान पड़ता है । देवियों की तुष्टि के लिये पशुओं और मनुष्यों की वलि देने की घृणित और निर्दय प्रथा भी उस समय कुछ कुछ विद्यमान थी ।

इस विषय को समाप्त करने से पूर्व उस समय के लोगों के चरित्र पर भी दो चार शब्द कहना अप्रासंगिक न होगा । प्राचीन

दरिद्र

काल से ही भारतीयों का चरित्र बहुत उज्ज्वल

और प्रशंसनीय रहा है । मेगस्थनीज ने भारतीयों के विषय में लिखा है कि "वे सत्य बोलते थे, चोरी नहीं करते थे, वे अपने घरों में ताला नहीं लगाते थे । वीरता में भारतीय एशियावासियों से बढ़े चढ़े थे । वे गंभीर और ऋमशील थे ।

* कादंबरी; पृ० १२८—३०, निर्णयसागर संस्करण ।

† वही; पृ० १३६—३७ ।

उन्हें मुकदमा कराने की आवश्यकता कभी न होती थी ॥” यह उच्च चरित्र अत्यंत प्राचीन समय में ही नहीं थे किंतु हमारे समय के यात्रियों ने भी ऐसे ही वर्णन किए हैं। हुएन्तसंग लिखता है कि भारतीय सरलता और ईमानदारी के लिये प्रसिद्ध हैं। वे अन्याय से धन-संचय नहीं करते। अत् इदरिसी लिखता है कि भारतीय लोग सदा न्यायपरायण रहते हैं और उससे विमुख कभी नहीं होते। उनके व्यवहार में भलाई, प्रामाणिकता और निष्कपटता प्रसिद्ध हैं और इन विषयों में वे इतने प्रसिद्ध हैं कि सब देशों के लोग उनके यहाँ पहुँचते हैं और इससे उनका देश समृद्ध हो गया है*। तेरहवीं सदी का शम्सुद्दीन अबु अब्दुल्ला वेदी इज्ज जमाँ के फैसले को उद्धृत करते हुए लिखता है कि भारत की वस्ती बहुत धनी है। वहाँ के लोग धोखे और जर्दस्ती से अलग रहते हैं। वे जीने मरने की कुछ परवाह नहीं करते। मार्कों पोलो (तेरहवीं सदी) का कथन है कि ब्राह्मण उत्तम व्यापारी और सत्यवादी हैं। वे मद्य-मांस का उपयोग नहीं करते और संयमी जीवन व्यतीत करते हैं। वे चिरायु होते हैं†। उस समय ज्ञात्रिय खाट पर मरना अपने लिये निदनीय समझते थे। युद्धों में मरने के लिये वे लालायित रहते थे, परंतु ऐसा अवसर न मिलने पर वे कभी कभी पर्वत से लुढ़ककर (भृगुपतन), अग्नि में बैठकर जल मरते या जल में डूबकर मर जाते थे। बल्लाल सेन तथा धंगदेव के पानी में डूबने और मृच्छकटिक के कर्ता शूद्रक आदि के आग में जल मरने के उदाहरण मिलते हैं। कई ब्राह्मण जब देखते थे कि वे बृद्ध हो गए हैं, तब वे स्वयं अग्नि में जल मरते या पानी में कूद पड़ते थे।

* इलियट; हिम्मी आफ इंडिया, जिल्ड १, पृ० ८८।

† मैक्समूलर; हंडिया, पृष्ठ २७५।

‡ मार्कों पोलो (मिन कूल द्वारा संपादित), जिल्ड २, पृ० ३५० और ३६०।

सिंकंदर के समय में भी अग्नि में वैठकर मरनेवाले एक ब्राह्मण का वर्णन मिलता है। मार्को पोलो भी इस प्रथा का वर्णन करता है* :

भारतीय समाज में खियाँ का स्थान

किसी समाज की उन्नति तब तक पूरी नहीं समझी जा सकती जब तक उसमें खियाँ को उच्च स्थान न मिले। अत्यत प्राचीन काल में भारत में खियाँ का आदर होता था इसलिये उन्हें अर्धाङ्गिनी का नाम दिया गया था। घर में उनका दर्जा बहुत ऊँचा था। यज्ञ यागादि में पति के साथ उनका वैठना आवश्यक समझा जाता था। रामायण और महाभारत में ही नहीं किंतु उनके बाद के नाटकों में भी खियाँ की स्थिति को अत्यंत उच्च बताया गया है। हमारे निर्दिष्ट समय तक भी समाज में खियाँ का स्थान बहुत ऊँचा था। भवभूति और नारायण भट्ट आदि के नाटकों से जान पड़ता है कि उस समय खियाँ का यथेष्ट मान और आदर किया जाता था।

पिछले समय की तरह उस समय में 'स्त्रीशृङ्गौ नाधीयताम्' प्रचलित न था। खियाँ भी पढ़ती थीं। बाण ने लिखा है कि राज्यश्री

खी-शिक्षा को बौद्ध सिद्धांतों की शिक्षा देने के लिये

दिवाकरमित्र नियुक्त किया गया था। बहुत सी खियाँ बौद्ध भिन्नु भी होती थीं, जो निस्पंदेह बौद्ध सिद्धांतों से भली भाँति परिचित होंगी। शंकराचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने-वाली मंडनमित्र की प्रकांड विदुषी पत्नी के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसने शंकराचार्य को भी निरुत्तर कर दिया था। प्रसिद्ध कवि राजशेखर की चौहान पत्नी अवंति-सुंदरी बहुत विदुषी थी। राज-शेखर ने अन्य विद्वानों से अपना मतभेद प्रकट करते हुए जहाँ और विद्वानों का मत दिखाया है, वहाँ उसने तीन स्थलों पर अवंति-सुंदरी का भी भिन्न मत दिया है। उस (अवंति-सुंदरी) ने प्राकृत कविता

* चि० वि० वैय; हिस्त्री आफ मिडिएवल इंडिया; जिल्ड २, पृ० १११।

में आनेवाले देशी शब्दों का एक कोश भी बनाया, जिसमें प्रत्येक शब्द के प्रयोग के स्वरचित उदाहरण दिए थे। हेमचंद्र ने अपनी देशी नाममाला में दो जगह उसके मतभेद का उल्लेख कर उदाहरण में उसकी कविता उछृत की है। खी-शिक्षा के विषय में राजशेखर अपने विचार इस तरह प्रकट करता है—“पुरुषों की तरह खियाँ भी कवि हों। संस्कार तो आत्मा में होता है, वह खी या पुरुष के भेद की अपेक्षा नहीं करता। राजाओं और मंत्रियों की पुत्रियाँ, वेश्याएँ, कौतुकियों की खियाँ, शास्त्रों में निष्पात बुद्धिवाली और कवयित्री देखी जाती हैं*। हमारे समय में बहुत सी खियाँ भी संस्कृत की कवि हुई हैं, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—इंदुलेखा, मारुला, मोरिका, विजिका, शीला, सुभद्रा, पद्मिनी, मदालसा और लक्ष्मी। इतना ही नहीं, खियाँ को गणित की शिक्षा भी दी जाने के उदाहरण मिले हैं। भास्कराचार्य (बारहवीं सदी के अंत में) ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित का अध्ययन कराने के लिये ‘लीलावती’ ग्रंथ लिखा। खियाँ को ललित कलाओं की तो विशेष शिक्षा दी जाती थी। राज्यश्री को संगीत, नृत्य आदि सिखाने का विशेष प्रबंध किए जाने का उल्लेख वाण ने किया है। हर्ष की रत्नावली में रानी का वर्तिका (ब्रश) से रंगीन चित्र बनाने का वर्णन है†। उसी में रानी को गीत, नृत्य, वाद्यादि के विषय में सलाह देनेवाली बताया है। खोज करने से इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं।

उस समय पर्दा प्रचलित न था। राजाओं की खियाँ दरबारों में आती थीं। हुएन्टसंग लिखता है कि जिस समय हुण मिहिर-

* नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (नवीन संरक्षण) भाग २, पृ० ८०-८२।

† रत्नावली; अंक २।

(६६)

कुल हारकर पकड़ा गया था, उस समय बालादित्य की राजमाता उससे मिलने गई थी* । हर्ष की माता राजदरवारियों से मिलती थी । बाण ने कादंबरी में विलासवती का भिन्न पर्दा

भिन्न शकुन जाननेवाले ज्यातिषियों, मंदिर के पुजारियों और ब्राह्मणों से मिलने और महाकाल के मंदिर में जाकर महाभारत की कथा सुनने का वर्णन किया है । राज्यश्री हुएन्टसंग से स्वयं मिली थी । तत्कालीन नाटकों में भी पर्दे का कोई उल्लेख नहीं है । यार्ता अवृज्ञद ने भी राज दरवारों में देशियों और विदेशियों के सामने छियों के उपस्थित होने का उल्लेख किया है । मेलों और उपवनों में पुरुषों के साथ साथ छियों के जाने का उल्लेख कामसूत्र आदि में मिलता है । छियाँ राजा के सेवक का कार्य भी करती थीं और दरवार, हवाखोरी, लड़ाई आदि में उनके साथ रहती थीं । वे शब्द धारण कर घोड़ों पर सवार होती थीं । कहीं कहीं युद्ध के समय रानियों और अन्य छियों के पकड़े जाने का भी उल्लेख मिलता है । दक्षिण के पश्चिमी सोलंकी विक्रमादित्य की बहिन अक्कादेवी वीर प्रकृति की और राजकार्य में निपुण थीं और चार प्रदेशों पर शासन भी करती थीं । एक शिलालेख से पाया जाता है कि उसने गोकागे (गोकाक, वेलगाँव जिले में) के किले पर भी घेरा डाला था । इसी तरह ऐसे अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि उस समय पर्दे की प्रथा विद्यमान नहीं थी । इतना निश्चित है कि राजाओं के अंतःपुर में सर्व साधारण का प्रवेश नहीं होता था । मुसलमानों के आने के बाद से पर्दे का प्रचार हुआ । उत्तरीय भारत में मुसलमानों का जोर अधिक होने से वहाँ शनैः शनैः पर्दे एवं घूँघट की प्रथा बड़े घरों में चली, परंतु जहाँ उनका अधिक प्रभाव नहीं हुआ, वहाँ

* वॉटर्स आंन युवनच्चार्वांग, जिल्द १, पृ० २८८—८६ ।

पर्दा या धूंधट नहीं चला। आज भी राजपूताने से दक्षिण के सारे भारतवर्ष में पर्दे की प्रथा नहीं है और कहीं है भी तो नाम मात्र को।

मनुस्मृति में, जो हमारे समय से पूर्व वन चुकी थी, आठ प्रकार के—त्राप्ति, दैव, आर्प, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राज्ञस और

पैशाच—विवाहों का उल्लेख है। बहुत संभव

विवाह

है, उस समय विवाह के ये प्रकार थोड़े

बहुत प्रचलित हों, परंतु इनका प्रचार कम हो रहा था। याज्ञवल्क्य ने इन आठों का उल्लेख कर पहले चार को ही करने योग्य बताया है। विष्णु और शंख स्मृतियों में भी पहले चार को ही योग्य बताया है। हारीत स्मृति में तो केवल त्राप्ति विवाह को ही उचित कहा गया है।

कुलीन घरों में बहु विवाह की प्रथा विद्यमान थी। राजा, सरदार आदि धनाढ़ी लोग प्रायः कई विवाह करते थे। एक शिला-लेख में कलचुरी राजा गांगेयदेव के मरने पर उसकी बहुत सी खियों के सती होने का उल्लेख है। उस समय तक बाल-विवाह की प्रथा आरंभ नहीं हुई थी। कालिदास ने शकुंतला के साथ दुष्यंत के मिलने का उल्लेख किया है, उस समय शकुंतला बड़ी हो गई थी। गृहसूत्रों में विवाह के कुछ समय बाद गर्भाधान करने का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि कन्या उस समय तक बड़ी हो जाती थी। मनुस्मृति में कन्या की आयु १६ वर्ष दी है। राज्यश्री की भी विवाह के समय १४ वर्ष की अवस्था थी। कादंबरी में वर्णित महाश्वेता या कादंबरी की आयु भी विवाह योग्य हो गई थी। हाँ, हमारे निर्दिष्ट काल के अंतिम समय में बाल-विवाह की प्रथा आरंभ अवश्य हो गई थी। मुसलमानों के आने के बाद इस प्रथा का अधिक प्रचार हुआ। विधवा-विवाह की प्रथा यद्यपि पहले को तरह उस समय प्रचलित नहीं थी, फिर भी उसका एकदम अभाव न था।

याज्ञवल्क्य समृद्धि में भी विधवा-विवाह का वर्णन है । विष्णु ने तो यहाँ तक लिखा है कि असंभुक्त विधवा के दूसरी बार विवाह से उत्पन्न पुत्र जायदाद के भी अधिकारी हैं । पराशर तक ने लिखा है कि यदि किसी द्वीप का पति मर गया हो, या साधु बन गया हो, लापता हो गया हो या नयुसक या पतित हो गया हो तो वह पुनर्विवाह कर सकती है* । प्रसिद्ध जैनमंत्रों वस्तुपाल तेजपाल का विधवा से उत्पन्न होना प्रसिद्ध ही है । इस प्रथा का प्रचलन शनैः शनैः क्रम होता गया और अंत में द्विजों में यह प्रथा बिलकुल नष्ट हो गई । अलबेरुनी लिखता है कि एक द्वीप दूसरी बार विवाह नहीं कर सकती । विधवाओं के बख वेशभूषा आदि भी सब दूसरी तरह के थे, जैसा कि राज्यश्री के विधवा होने पर वाणि के 'बन्नातु वैधव्यवेणी' लिखने से पाया जाता है । आज भी ग्राम: उच्च कुलों में विधवा-विवाह नहीं होता, परंतु बहुत सी जातियों में विधवा-विवाह प्रचलित है ।

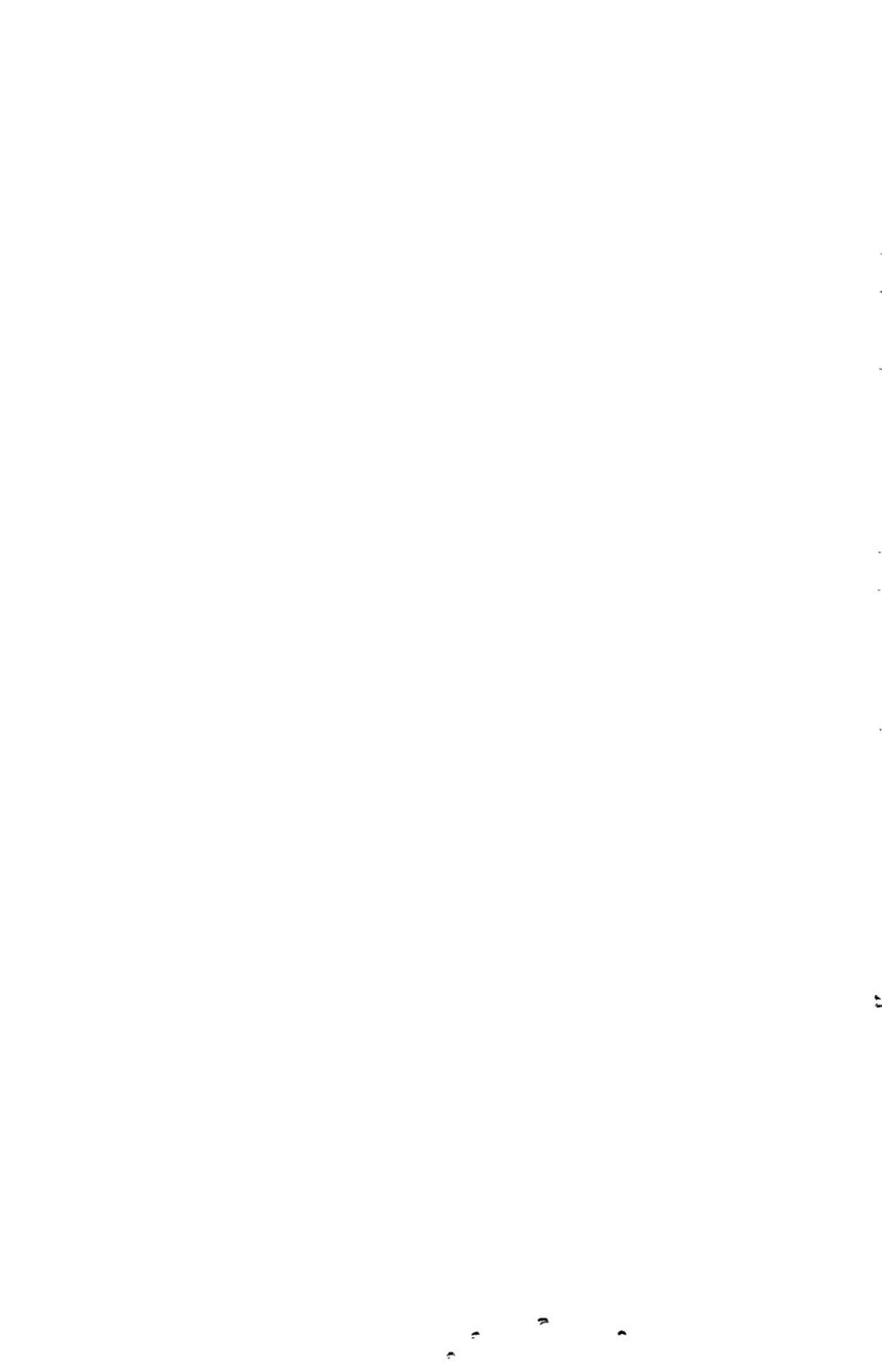
सती प्रथा का कुछ कुछ प्रचलन भी हमारे निर्दिष्ट काल के पूर्व से चला आता था । यह प्रथा हमारे समय में किसी प्रकार बढ़ती सती प्रथा गई । हर्ष की माता के स्वयं अग्नि में जल होकर लिया । हर्ष रचित प्रियदर्शिका में विद्यकेतु की द्वीप के सती होने का वर्णन मिलता है । इससे पूर्व छठी सदी के एक शिलालेख से भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की द्वीप के सती होने का उदाहरण मिलता है । अलबेरुनी लिखता है—“विधवाएँ या तो तपस्विनी का जीवन व्यतीत करती हैं या अग्नि में जल जाती हैं । राजाओं

* नष्टे मृते प्रवर्जिते कलीबे च पतिते पतौ ।

पञ्चस्वापसु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥

की स्थियाँ, यदि वे वृद्ध न हों, सती हो जाती हैं* ।” सब विधवाओं के लिये सती होना आवश्यक नहीं था। जिस किसी की इच्छा होती, वही सती हुआ करती थी।

ये प्रथाएँ होते हुए भी साधारणतः स्थियों की सामाजिक स्थिति बहुत उच्च थी। उनका पूर्ण आदर होता था उनकी जो दिन-चर्या वेदव्यास समृति में दी गई है, वह पढ़ने लायक है। उसका सारांश नीचे दिया जाता है—पत्नी पति से पूर्व उठकर घर साफ करे, स्नान करे और भोजन बनावे। पति को भोजन कराकर वैश्वदेव यज्ञ करे। तदनंतर स्वयं भोजन कर शेष दिन आय व्यय की चिंता करे। सायंकाल को फिर घर में भाड़ चौका देकर भोजन बनावे और पति को खिलाए। घरों में स्थियों का पूरा सम्मान था। मनुस्मृति में लिखा है कि जिस घर में स्थियों का सम्मान किया जाता है, वहीं देवता रहते हैं। उसी में लिखा है—आचार्य उपाध्याय से, और पिता आचार्य से दस गुना सम्मान्य है, परंतु माता, पिता से हजार गुनी सम्माननीय है। उनकी कानूनी स्थिति भी कम नहीं थी। उनकी व्यक्तिगत संपत्ति के लिये राज-नियम बने हुए थे। उन्हें भी जायदाद मिल सकती थी। इस विषय में कुछ विस्तार से आगे लिखा जायगा।



द्वितीय व्याख्यान

साहित्य

द्वितीय व्याख्यान

साहित्य

प्राचीन भारत का बाड़मय वहुत विस्तृत, गंभीर तथा उन्नत था। सभो विषयों की तरफ भारतीय विद्वानों का पूरा ध्यान था। साहित्य, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित, विज्ञान, कलाकौशल आदि सभी विषय उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचे हुए थे। हम यहाँ क्रमशः इन विषयों की उन्नति का कुछ परिचय देने का यत्न करेंगे। यहाँ एक बात कह देना आवश्यक है कि प्राचीन काल में साहित्य से केवल ललित साहित्य, काव्य, नाटक, कथा, उपन्यास, अलंकार आदि विषय ही अभिप्रेत थे, परंतु आजकल साहित्य शब्द वहुत व्यापक होकर बाड़मय के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है, जिससे विद्या संबंधी समस्त विषय उसके अंतर्गत हो जाते हैं।

हमारे निर्दिष्ट समय का माहित्य भाषा-संबंधी हष्टि से तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—मंस्कृत का साहित्य मध्यसे अधिक संपन्न है। उस समय मंस्कृत ही राजकीय भाषा थी। राज्यकार्य इसी में होता था। शिलालेख, ताम्रपत्र आदि भी प्रायः इसी में लिखे जाते थे। इसके अनिरिक्त मंस्कृत मंपूर्ण भारतवर्ष के विद्वानों की भाषा थी, इस कारण भी मंस्कृत का प्रचार प्रायः मंपूर्ण भारत में था।

२—प्राकृत भाषा का सर्व माध्यारण में प्रचार था । यही बोलचाल की भाषा थी । इसका भो साहित्य बहुत उन्नत था ।

३—दक्षिण भारत की तरफ यथापि पंडितों में संस्कृत का प्रचार था, तथापि वहाँ की बोलचाल की भाषा द्राविड़ी थी, जिसमें तामिल, तेलगू, मलयालम, कनाड़ी आदि भाषाओं का समावेश होता है । इनका साहित्य भी हमारे समय में उन्नत हुआ । अब हम क्रमशः इन तीनों भाषाओं के साहित्य पर विचार करते हैं ।

लालित साहित्य

साहित्य की दृष्टि से हमारा निर्दिष्ट समय बहुत उन्नत है । हमारे समय से बहुत पूर्व संस्कृत साहित्य का विकास हो चुका था पर इसकी वृद्धि हमारे समय में भी संस्कृत साहित्य के जारी रही । हम इस समय अन्य भाषाओं विकास की प्रगति के विकास की तरह संस्कृत में भाषा-नियम संबंधी या शब्दों के रूप-संबंधी परिवर्तन नहीं पाते । इसका एक कारण है । इस समय से बहुत पूर्व—३०० ई० पूर्व के ग्रामपास—आचार्य पाणिनि ने अपने व्याकरण के जटिल नियमों द्वारा संस्कृत को जड़ दिया । पाणिनि के इन नियमों को तोड़ने का साहस संस्कृत के किसी कवि ने नहीं किया, क्योंकि हमारे पूर्वज पाणिनि को एक महर्षि समझते थे और उसमें उनकी अगाध भक्ति थी । उसके नियमों को तोड़ना वे पाप समझते थे । यह प्रवृत्ति हम लोगों में बहुत प्राचीन काल से चली आती है, तभी तो महाभाष्यकार ने पाणिनि के सूत्रों में कुछ स्थलों पर त्रुटियाँ दिखाते हुए भी अपने को पाणिनि के रहस्यों को समझ सकने में असमर्थ कहकर उसका आदर किया है । इस समय संस्कृत में लालित्य लाने की बहुत कोशिश की गई । इसका शब्द-भांडार बहुत बढ़ा । संस्कृत की

भिन्न भिन्न लंखन-शैलियाँ आविष्कृत हुईं । यह विकास ६०० ई० से नहीं, इससे बहुत पूर्व प्रारंभ हो चुका था । कविकुल-चूड़ामणि कालिदास, भास, अश्वघोष आदि भी अपने काव्यों द्वारा तत्कालीन साहित्य को सुसंपन्न कर चुके थे । महाभारत और रामायण भी उनसे पूर्व बन चुके थे, परंतु यह विकास यहीं तक नहीं रुक गया था । यह उन्नति बहुत समय तक जारी रही और हम देखते हैं कि ६०० ई० के बाद भी यह उन्नति-क्रम उसी तरह चलता रहा । हमारे निर्दिष्ट काल में सैकड़ों काव्य (गद्य और पद्य), नाटक, उपन्यास, कथाएँ एवं आख्यायिकाएँ लिखी गईं ।

भारतीय साहित्य के जितने ग्रंथ आज विद्यमान हैं, केवल उन्हें देखकर हम तत्कालीन साहित्य की उन्नति का ठीक ठीक अनुमान नहीं कर सकते । उस समय के लिये हुए तत्कालीन साहित्य के सैकड़ों संस्कृत ग्रंथ-रत्न नष्ट हो चुके हैं और कुछ उत्कृष्ट काव्य बहुत से ऐसे गुप्त स्थानों में पढ़े होंगे, जिनका अभी तक किसी को पता भी नहीं । आज जो ग्रंथ दैव की कृपा से बच गए हैं, उनको संख्या बहुत थोड़ी है । फिर भी हमारे पास तत्कालीन संस्कृत साहित्य की स्थिति को जानने के लिये जो ग्रंथ बचे हैं, वे पर्याप्त हैं ।

इस समय उपलब्ध तत्कालीन काव्यादि साहित्य से पता लगता है कि उस समय का बहुत सा एसा साहित्य रामायण और महाभारत की घटनाओं से भरा हुआ है । यदि हम रामायण और महाभारत की कथाओं से संबद्ध सब पुस्तकों को अलग कर दें, तो अवशिष्ट पुस्तकों की संख्या बहुत थोड़ी रह जायगी । यहाँ हम संस्कृत के कुछ उत्कृष्ट काव्यों का परिचय देते हैं ।

किरातार्जुनीय—इसका कर्ता भारवि सातवीं सदी में हुआ था । इसका संवंध महाभारत की घटनाओं से है । यह काव्य केवल

साहित्य की दृष्टि से ही नहीं, नीतिशास्त्र की दृष्टि से भी एक उत्कृष्ट प्रथा है। अर्थ-गौरव इसका विशेष गुण है। इसके अंतिम भाग में कवि ने शब्द-वैचित्र्य के बहुत अद्भुत और उत्तम उदाहरण दिए हैं। एक श्लोक में तो 'न' के सिवा और कोई अन्तर ही नहीं, सिर्फ़ अंत में एक 'त' है*।

अमरुशतक भी एक उच्चकोटि का काव्य है। इसके विषय में प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर मैकडॉनल ने लिखा है कि इस पुस्तक का लेखक प्रभियों की प्रसन्नता और दुःख, क्रोध तथा भक्ति के भावों को दिखाने में सिद्धहस्त है।

भट्टिकाव्य—इसे भट्टि ने, जो बलभी के राजाधरसेन का आश्रित था, साहित्य के रूप में शुष्क व्याकरण के रूप मिखाने के साथ साथ राम की कथा का वर्णन किया है।

शिशुपाल वध—इसमें कृष्ण द्वारा शिशुपाल के वध की कथा है। इसका कर्ता माघ कवि सातवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ था। इस काव्य में रचना-मौद्र्य के साथ उपमा, अर्थ-गौरव एवं पदलालित्य का अच्छा चमत्कार है। इसकी कविता के विषय में प्रसिद्ध है—

उपमा कालिदासस्य भारवेर्थगौरवम् ।

दण्डनः पदलालित्यं माघे संति त्रया गुणाः ॥

नलोदय—इसमें नलदमयंती की कथा है। इसकी वर्णनशैली और क्रिंदां की विविधता विशेष महत्व की है। तुकों का चमत्कार इसकी एक विशेषता है। वे कंवल अंत में नहीं मध्य में भी आए हैं। यह प्रथा संस्कृत साहित्य में एक नई चीज़ है।

* न नोनुज्ज्ञो नुन्नेना नाना नानानना ननु ।

नुन्नेऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेनानुन्ननुनुत ॥

राघवपांडवीय—इसका कर्ता कविराज (८०० ईश्वी के करीब) हुआ । इस ग्रंथ में रामायण और महाभारत की घटनाओं का साथ साथ वर्णन किया गया है । प्रत्येक श्लोक के दो अर्थ होते हैं । एक रामायण की कथा बतलाता है, तो दूसरा महाभारत की । इस शैली के और भी काव्य मिलते हैं ।

पाश्वर्बभ्युदय काव्य—यह ग्रंथ जैन आचार्य जिनसेन ने दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष (नवीं सदी) के समय में लिखा । इसकी विशेषता यह है कि पाश्वर्वनाथ के चरित के साथ कहीं अंतिम पंक्ति, कहीं पहली और चौथी, कहीं पहली और तीसरी पंक्ति तथा कहीं दूसरी और तीसरी पंक्ति मेघदूत से ली गई है । इस प्रकार अपने बहुत काव्य में उसने संपूर्ण मेघदूत का समावेश कर लिया है; और अपनी कथा में कोई अंतर पड़ने नहीं दिया । इस पुस्तक से समस्त मेघदूत की तत्कालीन पाठ का निर्णय हो सकता है ।

वैसे तो संस्कृत का प्रायः संपूर्ण पद्य साहित्य गाया जा सकने के कारण गेय काव्य (Lyric poetry) कहा जा सकता है, परंतु जयदेव का बारहवीं शताब्दी में बनाया हुआ 'गीतगोविंद' गेय कविता का उत्कृष्ट ग्रंथ है । कवि ने इसमें कठिन लंबों में अत्यंत उत्तम शब्द-विन्यास की पूर्णता दिखाई है । अपनी अनुपम चतुरता से अनुप्रास और तुकों से उसने कविता को बहुत ही अधिक मधुर और भावोच्चेजक बना दिया है, जो भिन्न भिन्न रागों में गाई जा सकती है । इस काव्य की बड़े बड़े पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और कहीं ने तो इसमें गेय कविता की पराकाष्ठा मान ली है ।

इनके अतिरिक्त बहुत से संस्कृत काव्य हमारे निर्दिष्ट समय में लिखे गए, जिनमें से कुछ एक के नाम नीचे दिए जाते हैं । प्रसिद्ध कवि ज्ञेमेंद्र ने 'रामायण-मंजरी,' 'भारत-मंजरी,' 'दशावतार-

चरित,' 'समय-मातृका,' 'जातकमाला,' 'कविकंठाभरण,' 'चतुर्वर्ग-संग्रह' आदि छाटे बड़े अनेक ग्रंथ लिखे। कुमारदाग का 'जानकी-हरण', हरदत्त-विरचित 'राववनैपर्याय', मंखकवि-लिखित 'श्रीकंठ-चरित,' हर्ष-कृत 'नैपथ्यचरित,' वस्तुपाल-विनिर्मित 'नरनारायणनंदकाव्य,' राजानक जयरथ-प्रणीत 'हरचरित-चित्तामणि,' राजानक रत्नाकर का 'हरविजय महाकाव्य,' दामोदर-विरचित 'कुट्टीनीमत,' वारभट-कृत 'नेमि-निर्वाण,' धनंजय श्रेष्ठि का 'द्विसंधान महाकाव्य,' संध्याकरनंदी का 'रामचरित,' विलहण-प्रणीत 'विक्रमांकदेवचरित,' पद्मगुप्त-प्रणीत 'नवसाहस्रांक चरित,' हेमचंद्र का 'द्रुयाश्रय महाकाव्य,' जयानक-रचित 'पृथ्वीराजविजय,' सोमदेव-कृत 'कीर्ति-कामुदी' और कलहण-विनिर्मित 'राजतरंगिणी' आदि सैकड़ों काव्य हैं। इनमें से अंतिम सात ऐतिहासिक ग्रंथ हैं।

हमारे समय में सुभाषितां—भिन्न भिन्न विषयों के उत्तम श्लोकों—के कई संग्रह भी हो चुके थे। अमितगति (८८३ ३०) के 'सुभाषित-

सुभाषित संग्रह' और वल्लभदेव (११वीं शताब्दी*) रत्नसंदाह'

की 'सुभाषितावलि' के अतिरिक्त एक वैद्व विद्वान् का सुभाषितसंग्रह भी मिला है, जो प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डा० टामस ने 'कवींद्रवचनसमुच्चय' नाम से प्रकाशित किया है। इस ग्रंथ की १२ वीं शताब्दी की लिखी हुई एक प्रति मिली है। इस ग्रंथ का तथा ग्रंथ के लेखक का नाम अभी तक अज्ञात है।

साहित्य में कथाओं और आख्यायिकाओं का भी एक विशेष स्थान है। हम देखते हैं कि हमारे निर्दिष्ट काल में इस और भी

* कई विद्वान् इस ग्रंथ को १४ वीं शताब्दी का बता हुआ जानते हैं, परंतु यह ठीक नहीं। सर्वांनेद ने, जो १०८१ शक संवत् (११५६ ३०) में हुआ था, अमरकोश की 'टीकासर्वस्व' नाम की टीका में सुभाषितावलि के अंश उद्धत किए हैं।

संस्कृत के विद्वान् कवियों ने उपेक्षा नहीं की। छोटी छोटी कथाओं की पढ़नि भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आती थी। वैद्वतों

गव राज्य
और जैनों के धर्मयथों के निर्माण-काल तक इस

पढ़नि का पूर्ण विकास हो चुका था। ६००

ई० से पूर्व बहुत सी कथाएँ बन चुकी थीं, जिनका महाभारत और पुराणों आदि में समावेश है। उस समय तक प्रसिद्ध पंचतंत्र भी बन चुका था। इसके बनने का निश्चित समय हम नहीं बतला सकते, हाँ ५७० ईस्वी में इसका पहली भाषा में अनुवाद हो चुका था। यह ग्रंथ इतना प्रसिद्ध हुआ कि इसके अरबी और सीरियन भाषा में भी अनुवाद हो गए। इसके सिवा हमारे समय के बहुत पूर्व गुणाळ्य नामक विद्वान् द्वारा पैशाची में लिखी गई 'बृहत्कथा' भी विद्यमान थी, ऐसा दंडी, सुवंधु और वाण के निर्देशों से पाया जाता है। चंमेंद्र ने 'बृहत्कथामंजरी' के नाम से १०३७ ईस्वी के आसपास इसका संस्कृत में अनुवाद किया था। पंडित सोमदेव ने भी 'कथासरित्सागर' के नाम से इसका अनुवाद (१०६३—१०८१ के बीच में) किया था। 'बृहत्कथा' का तीसरा रूप भी 'बृहत्कथा-श्लोक-संप्रह' के नाम से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त 'वैतान-पंचविंशति' और 'मिहामन-द्वात्रिंशतिका', 'शुक-सप्तति' आदि कथाओं के कई छोटे छोटे संप्रह मिलते हैं, जो हमारे समय में भी प्रसिद्ध थे। इन अनुवादों से भारतीय कथाओं का यूरोप में भी प्रवेश हो गया और वहाँ भी ये कथाएँ प्रचलित हो गईं। यही कारण है कि हम बहुत सी अरबी कथाओं में भारतीय कथाओं से कफी समानता पाने हैं।

छोटी छोटी कथाओं के इन संप्रहों के अतिरिक्त कई एक गद्य उपन्यास या आस्थायिकाएँ भी लिखी गईं। यद्यपि ये ग्रंथ गद्य में हैं तथापि इनकी वर्णन-शैली प्रायः पद्य काव्यों की ही है। अनंतकार,

शब्दवैचित्र्य तथा अनुप्रासादि की इसमें भी बहुलता है। समास और श्लेषादि अलंकार बहुत होने के कारण इनकी भाषा कहीं कहीं क्लिप्ट हो गई है। इनसे तात्कालिक सभ्यता, रहन सहन आदि पर बहुत प्रकाश पड़ता है। दंडी कवि के बनाए हुए 'दशकुमारचरित' से हमें तत्कालीन रीति रिवाज, साधारण सभ्यता, राजा आदि विशिष्ट पुरुषों के व्यवहार संबंधी बहुत सी ज्ञातव्य बातें मालूम होती हैं। सुवंयु-रचित 'वासवदत्ता' भी संस्कृत साहित्य में एक अनोखा ग्रंथ है, परन्तु बहुधा प्रत्यक्ष शब्द पर श्लेषों की भरमार होने के कारण वह विशेष क्लिप्ट हो गया है। कहीं कहीं तो एक ही वाक्य या वाक्यखंड के ६-७ या उनसे भी अधिक अर्थ होते हैं। कवि ने अपनी विद्रूता दिखाने के लिये भले ही उसकी ऐसी रचना की हो, परंतु साधारण पाठकों के लिये तो वह बहुत नीरस ग्रंथ है और टीका के बिना तो उन्हें जगह जगह पर सकना पड़ता है। इसके अनंतर हम प्रसिद्ध कवि वाण के 'हर्षचरित' और 'कादंबरी' को देखते हैं। 'हर्षचरित' एक ऐतिहासिक (हर्षचरित संबंधी) गद्य काव्य है। इससे हर्ष-कालीन इतिहास जानने में बहुत सहायता मिली है। इसकी भाषा क्लिप्ट और समासबहुल है। इसका शब्दभांडार बहुत ही अधिक है। काव्य और भाषा की दृष्टि से 'कादंबरी' सर्वोत्कृष्ट है। इसकी भाषा क्लिप्ट नहीं और इसमें लालित्य पहले ग्रंथ से अधिक है। इसे पूर्ण करने से पहले ही वाण का देहांत हो गया। उसका उत्तरार्थ वाण के पुत्र पुलिन भट्ट (पुलिंद) ने लिखकर पूरा किया। वाण और उसके पुत्र ने संस्कृत गद्य लिखने में जो भाषा का सौष्ठव प्रदर्शित किया है, वह किसी अन्य लेखक के ग्रंथ में नहीं पाया जाता। इसी से पंडितों में यह कहावत प्रसिद्ध है—“बाणच्छिर्दं जगत्सर्वम्।” सांद्रदल की 'उदयसुंदरी कथा' और धनपाल की 'तिलकमंजरी' भी उत्कृष्ट गद्य काव्य हैं।

संस्कृत साहित्य में चंपू ग्रंथों (गद्य-पद्यात्मक काव्यों) का भी विशेष स्थान है। सबसे प्रसिद्ध चंपू 'नल चंपू' है जिसे त्रिविक्रम भट्ट ने ^{८१५ ई०} चंपू देव का 'यशस्तिलक' भी उत्कृष्ट चंपू है। राजा भोज ने 'चंपूरामायण' की रचना की पर उसके केवल पाँच कांड ही लिखे जा सके।

नाटकों का प्रचार भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से था और पाणिनि से, जो ई० सन् पूर्व की छठी शताब्दी में हुआ, पूर्व ही उनके नाटक नियम-ग्रंथ भी बन चुके थे। पाणिनि ने शिलाली और कृशाश्च के नट-सूत्रों का नाम भी दिया है। पीछे से भरत ने 'नाट्यशास्त्र' भी लिखा। हमारे काल से पूर्व भास, कालिदास अश्वघोषादि प्रसिद्ध नाटकलेखक हो गए थे। हमारे समय में भी बहुत से नाटक बने।

महाराजा शूद्रक का बनाया हुआ 'मृच्छकटिक' भी बहुत उच्च कोटि का नाटक है। इसमें जीवन-शक्ति और कर्मण्यता के भाव बहुत अच्छी तरह दिखाए गए हैं। कन्नौज के प्रसिद्ध राजा हर्षवर्द्धन ने 'रत्नावलो' और 'प्रियदर्शिका' नाम के नाटक लिखे। इनमें पात्रों का चरित्र-चित्रण तथा वस्तु का विन्यास बहुत उत्तमता से किया गया है। उसका तीसरा नाटक 'नागानंद' है, जिसकी प्रोफेसर मैकडानल आदि विद्वानों ने बहुत प्रशंसा की है। नाटक लिखने में महाकवि कालिदास की प्रतिस्पर्धा करनेवाला भवभूति भी इसी निर्दिष्ट काल (आठवीं शताब्दी) में हुआ। भवभूति बरार का रहनेवाला एक त्राघाण था। उसके तीन नाटक—'मालतीमाधव', 'महावीर-चरित' और 'उत्तररामचरित'—मिलते हैं। इन तीनों नाटकों में अपनी अपनी विशेषता है। मालतीमाधव में 'शृंगार रस', महावीर-चरित में 'वीर रस' और उत्तररामचरित में 'करुण रस' का उत्कृष्ट

है, परंतु कल्पना रस के प्रदर्शन में भवभूति सबसे बड़े गया है। उसकी कल्पना शक्ति बहुत प्रशंसनीय है। बड़े बड़े वाक्य होने के कारण उसके नाटक रंगभूमि के लिये वैसे अच्छे नहीं हैं, जैसे कि भास और कालिदास के हैं। हमारे समय का होने पर भी भट्टनारायण का समय निश्चित रूप से मालूम नहीं हो सका। उसका 'वेणी-संहार' एक उत्तम नाटक है। इसमें महाभारत के युद्ध का वर्णन है। वीर रस इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। 'मुद्राराज्ञम्' का कर्ता विशाखदत्त भी ८०० से पीछे नहीं हुआ। यह नाटक अपने ढंग का एक ही है। यह बिलकुल राजनीतिक है। राजशंखर ने भी, जो कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल और महिपाल के पास रहता था, कई नाटक लिखे। यह संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रकांड पंडित था। उसने अपने नाटकों में कई नए छंदों की रचना की है। कहावतों का भी उसने बहुत जगह प्रयोग किया है। उसके बालरामायण और बालभारत नाटकों का विषय तो नाम से ही स्पष्ट है। उसका तीसरा ग्रन्थ 'विद्वशाल-भंजिका' एक उत्तम हास्य-रसपूर्ण नाटिका है। कवि दामोदर ने, जो ८५० ई० से पूर्व हुआ था, 'हनुमन्नाटक' या 'महानाटक' लिखा, जिसे नाटक कहने की अपेक्षा काव्य कहना अनुचित न होगा। इसमें प्राकृत का कहाँ भी उल्लेख नहीं है। कृष्णमिश्र कवि (११०० ई०) ने 'प्रबोधचंद्रोदय' नामक एक बहुत उत्कृष्ट नाटक लिखा। यह अलंकारात्मक तथा भावात्मक नाटक है। नैतिक और दार्शनिक दृष्टि से यह बहुत ही उत्तम है। इसमें शांति, चमा, काम, लोभ, क्रोध, दंभ, अहंकार, मिथ्यादृष्टि आदि पात्र रखे गए हैं। यह नाटक ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपयोगी है।

हमने ऊपर कुछ नाटकों का परिचय दिया है। इनके अतिरिक्त भी बहुत से नाटक हमें मिलते हैं, जिनमें से मुरारि-कृत 'अनर्घराघव',

विलहण-रचित 'कर्णसुंदरी' (नाटिका), चंदेल राजा परमर्दिदेव के मंत्री वत्सराजकृत छः रूपक—'किरातार्जुनीय' (व्यायोग), 'कर्पूर-चरित' (भाषण), 'रुक्मिणीपरिणय' (ईहास्मृग), 'त्रिपुरदाह' (डिम), 'हास्यचूडामणि' (प्रहसन) और 'समुद्रमथन' (समवकार); चौहान राजा विप्रहराज का लिखा हुआ 'हरकेलि नाटक', सोमेश्वर-विरचित 'लतितविप्रहराज नाटक', परमार राजा धारावर्ष के भाई प्रलहादन देव का 'पार्षपराक्रम' (व्यायोग) आदि द्रष्टव्य हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से और भी नाटक लिखे गए, जिनके नाम हम विस्तार-भय से नहीं देते ।

साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों की उन्नति हमारे समय तक हो चुकी थी। ध्वनि, अलंकार, रस आदि साहित्य के उपयोगी और

आवश्यक अंगों पर भी हमारे समय में कई ध्वनि, अलंकार आदि ग्रंथ लिखे गए थे। श्रीममटाचार्य ने साहित्य के अंग

'काव्यप्रकाश' लिखा, परंतु वह उसे पूर्ण न कर सका, इसलिये उसका शेष भाग अलख (अल्लट) सूरि ने लिखा। इसके सिवा भी कई ग्रंथ लिखे गए, जिनमें से गोवर्धनाचार्य का 'धन्यालोक', भामह का 'अलंकार शास्त्र', 'राजरोग्वर-कृत 'काव्य-मीमांसा', हेमचंद्र-रचित 'काव्यानुशासन', वामभट-लिखित 'काव्यानुशासन' और 'वामभटालंकार', उद्घट-निर्मित 'काव्यालंकार-संग्रह', रुद्रट का 'काव्यालंकार-संग्रह' और भोज-रचित 'सरस्वती-कंठाभरण' मुख्य हैं। छंदशास्त्र तो वेद का अंग समझा जाता है। इस पर भी अनेक उल्लृष्ट ग्रंथ लिखे गए, जिनमें पिंगलाचार्य का 'पिंगल-छंद-सूत्र' सबसे अधिक प्राचीन है। हमारे समय में भी इस प्रशस्ति संसंबंध रखनेवाले कई ग्रंथ लिखे गए, जिनमें से दामोदर मिश्र का 'वाणीभूषण', हेमचंद्र-कृत 'छंदानुशासन', और चंद्रेंद्र कृत 'सुघृत-तिलक' उल्लेख्य हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि हमारे सैकड़ों काव्य, नाटक, उपन्यासादि इस अंधकारमय दीर्घकाल के प्रभाव से मुसलमान शासकों के राजत्वकाल में नष्ट हो गए। जितने उपलब्ध भी हैं, उनमें से हमने कुछ का परिचय मात्र दिया है। संभव है, खोज से कई उत्तम और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथों का और भी पता लगे।

६०० से १२०० ई० तक के संस्कृत साहित्य पर सरसरी नजर डालने से पता लगता है कि वह समय संस्कृत साहित्य की दृष्टि से उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा हुआ था।

तत्कालीन काव्य काव्य, अलंकार, छन्दःशास्त्र, नाटक आदि साहित्य का सिंहावलोकन सभी अंग उन्नति करते हुए नजर आते हैं। इन साहित्य-ग्रंथों में केवल प्रेम की कथाएँ ही नहीं, किंतु वीर, करुण आदि अन्य रसों का भी पूरा विकास देख पड़ता है। नीति और शिक्षा की दृष्टि से भी ये ग्रंथ कम महत्व के नहीं हैं। भारवि का 'किरातार्जुनीय' राजनीति शास्त्र की दृष्टि से अपूर्व ग्रंथ है। वाणी के 'कादंबरी' और 'हर्षचरित' में दिए गए उपदेश अपना सानी नहीं रखते। काव्य-चमत्कार तो हम प्रायः प्रत्येक काव्य में थोड़ा बहुत अवश्य पाते हैं।

कविता भारतीय आर्यों की अत्यंत प्रिय वस्तु थी। केवल काव्य से संबंध रखनेवाले ग्रंथ ही कविता में नहीं लिखे गए, परंतु वैद्यक, ज्यातिष, व्याकरण, अंकगणित, वीजगणित (इनके प्रश्न और उदाहरण तक) आदि अनेक विषयों के ग्रंथ भी छंदों में ही लिखे गए। इतना ही नहीं, हम देखते हैं कि गुप्तवंशी राजाओं के सिक्कों पर भी कविता-बद्ध लंख अंकित हैं। इतने प्राचीन काल में संसार के किसी भी दंश में सिक्कों पर कविताबद्ध लंख नहीं लिखे जाते थे।

व्याकरण

प्राचीन काल में व्याकरण को बहुत महत्त्व दिया जाता था। वेद के छः ऋगों में व्याकरण ही प्रथम और प्रधान समझा जाता था। ६०० ई० तक व्याकरण बहुत उन्नत हो चुका था। पाणिनि के व्याकरण पर कात्यायन और पतंजलि अपने वार्तिक और महाभाष्य लिख चुके थे। शर्ववर्मा का 'कार्त्त्र व्याकरण' भी, जो प्रारंभिक विद्यार्थियों के लिये लिखा गया था, बन चुका था। इस पर सात टीकाएँ मिल चुकी हैं। हम देखते हैं कि व्याकरण बहुत समय तक हिंदुओं में मुख्य विषय बना रहा। पंडित होने के लिये व्याकरण का प्रकांड विद्रोन होना आवश्यक समझा जाता था। हमारे इस निर्दिष्ट काल में भी व्याकरण विषयक कई उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखे गए। सबसे प्रथम पंडित जयादित्य और वामन ने ६६२ ई० के आसपास 'काशिकावृत्ति' नाम से पाणिनि के सूत्रों पर भाष्य लिखा, जो बहुत उत्तम तथा उपयोगी ग्रंथ है। भर्तृहरि ने भाषा-शास्त्र की हष्टि से व्याकरण पर 'वाक्यप्रदीप' नाम का बृहद् ग्रंथ तथा 'महाभाष्य-दीपिका' और 'महाभाष्य-त्रिपदी' व्याख्यान लिखे। उस समय तक उण्डि सूत्र भी बन चुके थे, जिनकी टीका १२५० ई० में उज्ज्वलदत्त ने की। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर लिखे गए ग्रंथों के अतिरिक्त भी कई स्वतंत्र व्याकरण बने। चंद्रगोमिन ने ६०० ई० के करीब 'चांद्रव्याकरण' लिखा। उसने इसमें पाणिनि के सूत्रों और महाभाष्य का भी कुछ उपयोग किया है। इसी तरह जैन शाकटायन ने नवीं शताब्दी में एक व्याकरण लिखा। प्रसिद्ध जैन-आचार्य हेमचंद्र ने अपनी तथा अपने ममय के राजा सिद्धराज की स्मृति स्थिर रखने के लिये शाकटायन के व्याकरण से भी अधिक विस्तृत 'सिद्ध-हेम' नामक व्याकरण लिखा। जैन होने के कारण उसने वैदिक-भाषा संबंधी नियमों का वर्णन नहीं किया। इनके सिवा व्याकरण

से संबंध रखनेवाले कुछ और भी छोटे छोटे प्रथा लिखे गए, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—वर्धमान-प्रणीत ‘गणराज-महोदधि’, भासर्वज्ञ-कृत ‘गणकारिका’, वामन-विरचित ‘लिंगानुशासन’, हेमचंद्र-लिखित ‘उणादि-सूत्रवृत्ति’, ‘धातुपाठ’, ‘धातुपारायण’, ‘धातुमाला’, ‘शब्दानुशासन’ आदि ।

कौष

‘ हम ऊपर लिख चुके हैं कि संस्कृत साहित्य के विकास की दिशा भाषा-परिवर्तन की ओर नहीं थी । उसकी दिशा शब्द-भाँडार बढ़ाने, भाषा में लालित्य तथा अलंकार लाने की तरफ थी । इस काल में संस्कृत साहित्य का शब्द-भाँडार बहुत बढ़ता गया । उसके बढ़ने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि संस्कृत के कोष भी बने ; कुछ कोष ऐसे हैं, जिनमें एक नाम के तमाम पर्यायवाची शब्द इकट्ठे दिए गए हैं और कुछ ऐसे हैं, जिनमें एक शब्द के मत्र अर्थ इकट्ठे दिए हैं । कई कोषों में शब्दों के लिंग भी बताए गए हैं । अमर-सिंह का बनाया हुआ छंदोबद्ध ‘अमरकोष’ बहुत प्रसिद्ध है, जो हमारे समय के प्रारंभ के आसपास का बना हुआ है । यह कोप इतना लोकप्रिय हुआ कि इस पर करीब ५० टीकाएँ लिखी गईं । उनमें से अब कुछ का ही पता लगता है, जिनमें से भट्ट जीरस्वामी की, जो संभवतः १०५० ई० के करीब हुआ, टीका विशेष प्रसिद्ध है । पुरुषोत्तम देव ने ‘त्रिकांडशेष’ के नाम से अमर-कोप का एक परिशिष्ट लिखा । यह बहुत ही उपयोगी कोष है, क्योंकि इसमें बौद्ध संस्कृत तथा अन्य प्राकृत भाषाओं के भी शब्द हैं । इसके लेखक ने ‘हारावली’ नामक भी एक कोष लिखा, जिसमें बहुत से ऐसे कठिन शब्दों का समावेश किया गया जिनका

उससे पहले के ग्रंथों में उल्लेख नहीं मिलता। इसका भी समय ७०० से पीछे नहीं माना जा सकता। शाश्वत का लिखा 'अनेकार्थ-समुच्चय' भी बहुत उपर्याप्ति कोष है। ह्लायुध ने ८५० ई० के करीब 'अभिधान-रत्नमाला' लिखी। इसमें कुल ८०० श्लोक हैं। दक्षिणी विद्वान् यादवभट्ट का 'वैजयंती कोष' भी बहुत अच्छा है। इसमें शब्द, अक्षरों की संख्या और लिंग के साथ साथ अकारादि क्रम के अनुसार लिखे गए हैं। इनके अतिरिक्त धनंजय-कृत 'नाम-माला', महेश्वर-विनिर्मित 'विश्वप्रकाश' और मंखकवि-रचित 'अनेकार्थ कोष' आदि कोष लिखे गए। हेमचंद्र का 'अभिधान-चिंतामणि कोष' भी बड़े महत्व का है, जो उसी के कथनानुसार उसके व्याकरण का परिशिष्ट है। फिर उसने इस कोष के परिशिष्ट के रूप में वनस्पति शास्त्र संबंधी शब्दों का ३८६ श्लोकों में 'निर्घटु कोष' लिखा। उसने अनेकार्थ संग्रह भी लिखा। १२०० के करीब केशवस्वामी ने 'नानार्थ-संकल्प' नामक एक कोष लिखा।

दर्शन

~ हमारा निर्दिष्ट काल दार्शनिक हृष्टि से उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ था। इस समय से पूर्व भारत में दर्शन के छः प्रमिद्ध संप्रदायों—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदांत)—का पूर्ण विकास हो चुका था। पाणिनि ने न्याय से नैयायिक शब्द बनने का निर्देश किया है। सभी संप्रदाय उन्नति के शिखर पर थे। इनके अतिरिक्त बौद्ध और जैन दर्शन भी बहुत बढ़े चढ़े थे। राष्ट्र की समृद्धि, राज्य में सुख और शांति तथा जनता को पेट भरने की चिंता न रहने आदि का यह तो स्वाभाविक परिणाम है कि देश में दार्शनिक उन्नति हो।

(८८)

६०० ई० से पूर्व तक छहों सप्रदायों के मुख्य मुख्य सूत्र प्रथों का निर्माण हो चुका था और उन पर प्रामाणिक तथा उपयोगी भाष्य भी लिखं जा चुके थे ।

न्यायदर्शन वह शास्त्र है, जिसमें किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिये विचारों की उचित योजना का निरूपण रहता है । न्यायदर्शन

के अनुभार सोलह पदार्थ—प्रमाण, प्रमेय,
न्यायदर्शन संशय, प्रयोजन, वृट्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क,
निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हृत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—
के सम्बन्धीय के द्वारा अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है । प्रमाण
चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द । आप (साक्षात् कृत-
धर्मो) का शब्द ही प्रमाण है । अदृष्टार्थ में केवल वेद ही प्रमाण
है । वेद ईश्वरकृत हैं, इससे उनके वाक्य सदा सत्य और
विश्वसनीय हैं । प्रमेय (जानने योग्य पदार्थ) वारह हैं—

(१) आत्मा—सब वस्तुओं का दंखनेवाला, भोग करनेवाला,
जाननेवाला और अनुभव करनेवाला ।

(२) शरीर—भागों का आयतन ।

(३) इंडियाँ—भागों के साधन ।

(४) अर्थ—भोग्य पदार्थ ।

(५) बुद्धि ।

(६) मन ।

(७) प्रवृत्ति—मन, वचन और शरीर का व्यापार ।

(८) दोष—जिसके कारण सांसारिक कार्यों में प्रवृत्ति होती है ।

(९) पुनर्जन्म ।

(१०) फल—सुख या दुःख का अनुभव ।

(११) दुःख ।

(१२) अपवर्ग या मोक्ष ।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, और ज्ञान आत्मा के लिंग (अनुमान के साधन-चिह्न या हेतु) हैं । आत्मा ही कर्ता और भोक्ता है । संमार को बनानेवाला आत्मा ही ईश्वर (परम आत्मा) है । ईश्वर में भी आत्मा के समान संख्या, परिमाण, पृथक् त्व, संयोग, विभाग आदि गुण हैं, परंतु नित्य रूप से । पूर्वजन्म में किए हुए कर्मों के अनुमार शरीर उत्पन्न होता है । पंचभूतों से इंट्रियों की उत्पत्ति होती है और परमाणुओं के योग से सृष्टि ।

अपर लिखे हुए इस सिद्धांत-परिचय से ज्ञात होता है कि हमारा न्यायशास्त्र केवल तर्कशास्त्र नहीं है, किंतु प्रमेयों का विचार करनेवाला दर्शनशास्त्र है । पाश्चात्य तर्कशास्त्र (Logic) से इसका यही भेद है ।

आचार्य गौतम के न्याय-सूत्रों के प्रसिद्ध भाष्यकार वात्सायन के न्याय-सूत्र-भाष्य की टीका उद्योतकर ने सातवीं सदी के प्रारंभ में लिखी । यह टीका नैयायिक संप्रदाय में बहुत अधिक प्रामाणिक मानी जाती है । वासवदत्ताकार सुवंधु ने मल्लनाग, न्यायस्थिति, धर्मकीर्ति और उद्योतकर इन चार नैयायिकों का उल्लेख किया है । संभवतः ये सब सातवीं सदी के प्रारंभ के आस पास हुए होंगे । उद्योतकर की टीका वाचस्पति जिश्र ने की, जिसकी भी टीका उदयनाचार्य ने तात्पर्य-परिशुद्धि नाम से लिखी । ८८४ ई० के आसपास अन्य उदयन ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'कुसुमांजलि' लिखा । इसमें उसने न्याय के दृष्टिकोण से ईश्वर की मत्ता मिद्द की है । आस्तिक-वाद के लिखे हुए संमार के उनमें प्रश्नों में यह भी एक माना जाता है । उदयन की तर्कशैली और प्रतिपादनविधि अत्यंत विद्वन्नापूर्ण और आश्चर्यजनक है । इसमें उमने भीमांसकों के नामिकवाद के सिद्धांत तथा वेदांतियों, साखियों और वौद्धों के सत्कार्यवाद (कारण में कार्य का पूर्व से विद्यमान रहना) का, जिसको परिणामवाद भी कहते

हैं, बहुत अच्छी तरह मंडन किया है। उसने वौद्धदर्शन के विरोध में भी एक पुस्तक (वौद्धविकार) लिखी। ये सब ग्रंथ प्राचीन न्याय से संबंध रखते हैं।

६०० ई० के करीब से नैयायिक संप्रदाय में जैन और वौद्ध दार्शनिकों ने भी पर्याप्त उत्तरि शुरू कर दी थी। इनकी न्याय-शैली प्राचीन शैली से भिन्न थी। इसका विकास आठवीं सदी के आसपास हुआ। यह 'मध्यकालीन न्याय' कहा जाता है। वौद्ध नैयायिक दिङ्गानग ने इसे प्रचलित किया। नालंद में रहनेवाले धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति ने सातवीं सदी में 'न्यायविंदु' नामक ग्रंथ लिखा, जिस पर धर्मोन्तर ने ८०० ई० के आसपास एक टीका लिखी। जैन विद्वान् हेमचंद्र ने सूत्र-शैली पर 'प्रमाणमीमांसा' लिखी। इस मध्यकालीन संप्रदाय की अधिक पुस्तकों नहीं मिलतीं, परंतु तिब्बत में वौद्धों के न्याय संबंधी कई संस्कृत ग्रंथों के तिवरी अनुवाद मिलते हैं, जिनके मूल ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं हैं।

नवीन न्याय संप्रदाय का अभ्युदय १२०० ई० के आस पास शुरू होता है। वंगाल के नवद्वीप में गंगेश ने 'तत्त्वचित्तामणि' लिखकर इस संप्रदाय को प्रचलित किया। नवीन न्याय में भाषा की हिटता और बाह्य शब्द-जाल की अधिक प्रधानता है। पाञ्च से नदिया में इस संप्रदाय का बहुत प्रचार हुआ, परंतु न उसमें तत्त्व-निर्णय रहा, न तत्त्व-निर्णय का सामर्थ्य, किंतु शब्दाङ्कर बहुत बढ़ गया। अब तक वंगाल में यह प्रचलित है।

वैशेषिक उस दर्शन का नाम है, जिसमें पदार्थों का विचार तथा द्रव्यों का निष्पण हो। महर्षि कणाद का 'वैशेषिक दर्शन,'

न्याय दर्शन से बहुत कुछ समानता रखता है।
वैशेषिक दर्शन सिद्धांत पञ्च में न्याय कहने से दोनों का बोध होता है; क्योंकि गौतम के न्याय में प्रमाण-पञ्च प्रधान है और इसमें

प्रमेय-पत्र । ईश्वर, जगन्, जीव आदि के संबंध में दोनों के सिद्धांत एक हैं । न्याय में मुख्यतः तर्कपद्धति और प्रमाण-विषय का निरूपण किया गया है, परंतु वैशेषिक में उससे आगे बढ़कर द्रव्यों की परीक्षा की गई है । नौ द्रव्यों—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा (और परमात्मा) और मन—की विशेषताएँ बताने के कारण इसका नाम वैशेषिक पड़ा । इनमें से प्रथम चार परमाणु अवस्था में नित्य और स्थूलावस्था में अनित्य हैं । दूसरे चार नित्य और सर्वव्यापक हैं । मन नित्य है, परंतु व्यापक नहीं । वैशेषिक कं अनुसार पदार्थ केवल छः—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ही हैं । पीछे से अभाव भी सातवाँ पदार्थ माना गया । रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संख्या, पृथक्त्व, त्रुटि, सुख दुःख आदि चौर्वास गुण हैं । उत्तेपण, अवक्षेपण आदि पाँच प्रकार की गतियाँ कर्म हैं ।

वैशेषिक का परमाणुवाद प्रसिद्ध है । परमाणु नित्य और अन्तर (अविनाशी) हैं । इन्हीं की योजना से पदार्थ बनते हैं और सृष्टि होती है । जब जीवों के कर्मफल के भोग का समय आता है, तब ईश्वर की उस भोग के अनुकूल सृष्टि करने की इच्छा होती है । इसी इच्छा या प्रेरणा से परमाणुओं में गति या क्षोभ उत्पन्न होता है और वे परस्पर मिलकर सृष्टि की योजना करने लगते हैं ।

इसका जैन दर्शन से भी बहुत कुछ साम्य है । इम पर कोई प्राचीन भाष्य नहीं मिलता ! प्रशस्तपाद का 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' बहुत संभवतः ७०० ई० के करीब बना था । यह वैशेषिक संप्रदाय का प्रामाणिक प्रथं है । श्रीधर ने ८८१ ई० में 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' की बहुत उत्तम व्याख्या की । ज्यों ज्यों समय गुजरता गया, न्याय और वैशेषिक संप्रदाय भी परस्पर अधिक मर्मीप आने गए ।

सांख्य में सृष्टि की उत्पत्ति कं क्रम पर विशेष व्याख्या की गई है । सांख्य कं अनुसार प्रकृति ही जगन् का मूल है और

सत्त्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों के योग से सृष्टि तथा उसके सब पदार्थों का विकास हुआ है। आत्मा ही पुरुष है। वह अकर्ता, साक्षी और प्रकृति से मिश्र है। आत्मा या सांख्य पुरुष अनुभवात्मक हैं। सांख्य के अनुसार परमात्मा (ईश्वर) कोई नहीं है। इम संप्रदायवाले २५ तत्त्व मानते हैं—पुरुष, प्रकृति, महत्त्व (बुद्धि), अहंकार, ग्यारह इंट्रियाँ, (पाँच ज्ञानेंट्रियाँ, पाँच कर्मेंट्रियाँ और मन), पाँच गुण और पाँच महाभूत। सृष्टि को प्रकृति का परिणाम मानने के कारण इसे परिणामवाद भी कहते हैं।

सांख्य दर्शन भी अन्य दर्शनों की तरह बहुत प्राचीन है। बुद्ध के समय इसका बहुत अधिक प्रचार था। सांख्य दर्शन के प्रकृति-वादी होने के कारण ही बुद्ध ने भी ईश्वर की सत्ता की उपेक्षा की। वाचम्पति मिश्र ने ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका पर 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' नामक एक प्रामाणिक टोका लिखी। इस संप्रदाय के अधिक ग्रंथ नहीं मिलते, जो मिलते भी हैं वे हमारे निर्दिष्ट काल के नहीं। यह निश्चित है कि इस संप्रदाय का प्रचार ग्यारहवीं सदी में भी बहुत था। अरब के विद्वान् अलबेरुनी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में सांख्य के विषय में बहुत कुछ लिखा है। उस ममय तक भी ईश्वरकृष्ण की वनाई हुई 'सांख्यकारिका' का प्रचार बहुत था, जैसा कि अलबेरुनी के इससे दिए हुए कई उद्घरणों से पता चलता है। उपनिषदों में मिलनेवाला सांख्य संश्वर जान पड़ता है, परंतु ईश्वरकृष्ण और उसके बाद के लेखकों ने उसे निराश्वर माना है।

योग वह दर्शन है, जिसमें चित्त को एकाग्र करके ईश्वर में लीन करने का विधान है। योग दर्शन में आत्मा और जगत् के संबंध में सांख्य दर्शन के सिद्धांतों का ही प्रतिपादन किया गया है, परंतु पञ्चास तत्त्वों की जगह

योग में छब्बीस तत्त्व माने गए हैं। छब्बीसवाँ तत्त्व कल्पेश, कर्मवि-पाक आदि से पृथक्, ईश्वर है। इसमें योग के उद्देश, अंग तथा ईश्वर की प्राप्ति के साधनों पर पूरा विचार किया गया है। योग संप्रदाय के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये पाँच प्रकार के कलेश मनुष्य को होते हैं; और कर्मों के फलानुसार उसे दूसरा जन्म लेना पड़ता है। इनसे वचन और मोक्ष प्राप्त करने का उपाय योग है। क्रमशः योग के अंगों का साधन करते हुए मनुष्य सिद्ध हो जाता है और अंत में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ईश्वर नित्य, मुक्त, एक, अद्वितीय और त्रिकालातीत है। संसार दुखः-मय और हेत्य है। योग के आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणा-याम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं। योगसिद्धि के लिये इन आठों अंगों का साधन आवश्यक और अनिवार्य है। सृष्टि तत्त्व आदि के संबंध में योग का भी प्रायः वही मत है, जो साल्व्य का है। इससे साल्व्य को ज्ञानयोग और योग को कर्मयोग कहते हैं।

इस दर्शन का भारतीय जीवन पर पर्याप्त असर पड़ा। बहुतों ने योग की शिक्षा प्राप्त की। योग सूत्रों के 'व्यासभाष्य' की वाच-स्पति मिश्र ने एक प्रामाणिक टीका लिखी। विज्ञानभिन्नु का 'योग-सार-संप्रह' भी एक प्रामाणिक ग्रंथ है। राजा भोज ने योग सूत्रों पर एक स्वतंत्र वृत्ति लिखी। पीछे से योग शास्त्र में तंत्र का बहुत मेल मिलाकर कायद्यूह का विस्तार किया गया और शरीर के अंदर कई चक्र कल्पित किए गए। हठयोग, राजयोग, लययोग आदि विपर्यों पर भी पीछे से कुछ ग्रंथ लिखे गए।

कुछ विद्वानों का मत है कि पहले मीमांसा का नाम न्याय था।

पूर्व मीमांसा वैदिक वाक्यों के परस्पर समन्वय और समा-
धान के लिये जैमिनि ने पूर्व मीमांसा में जिन युक्तियों और तर्कों का व्यवहार किया, वे पहले न्याय के नाम से

प्रसिद्ध थे । आपस्तंव धर्म सूत्र के न्याय शब्द से पूर्व मीमांसा ही अभिप्रेत है । मध्वाचार्य ने पूर्व मीमांसा विषय का 'सार-संग्रह' ग्रंथ लिखा, जो 'न्यायमालाविस्तार' नाम से प्रसिद्ध है । इसी तरह वाचस्पति ने 'न्यायकणिका' नाम से मीमांसा विषयक ग्रंथ लिखा ।

मीमांसा शास्त्र कर्मकांड का प्रतिपादक है और वेद के क्रियात्मक भाग की व्याख्या करता है । इसमें यज्ञकांड संबंधी मंत्रों में विनियोग, विधि आदि का भले प्रकार प्रतिपादन किया गया है । इसमें यज्ञ, वलिदान और संस्कारों पर विशेष जोर दिया गया है । अतः मीमांसक पौरुषेय और अपौरुषेय सभी वाक्यों को कार्य विषयक मानते हैं । मीमांसा में आत्मा, ब्रह्म, जगत् आदि का विवेचन नहीं है । यह केवल वेद या उसके शब्द की नित्यता का प्रतिपादन करता है । इसके अनुमार वेदमंत्र ही देवता हैं । मीमांसकों का कथन है कि सब कार्य फल के उद्देश्य से ही होते हैं । फल की प्राप्ति कर्म के द्वारा ही होती है । अतः कर्म और उसके प्रतिपादक वचनों के अतिरिक्त ऊपर से किसी ईश्वर को मानने की आवश्यकता ही नहीं । मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और नैयायिक अनित्य । सांख्य और पूर्व मीमांसा दोनों अनीश्वरवादी हैं; वेद की प्रामाणिकता भी दोनों मानते हैं, भेद यही है कि सांख्य वेद का प्रत्येक कल्प में नवीन प्रकाशन मानता है और मीमांसक उसे नित्य कहते हैं ।

जैमिनि के सूत्रों पर सबसे प्राचीन भाष्य शब्दर स्वामी का उपलब्ध होता है, जो संभवतः पाँचवीं सदी में लिखा गया है । कुछ समय पीछे मीमांसकों के दो भेद हो गए । उनमें एक का प्रवर्तक कुमारिल भट्ट सातवीं सदी में हुआ, जिसका उत्तरोत्तर धर्म के प्रकरण में किया जा चुका है । उसने मीमांसा पर 'कातंत्रवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' लिखे, जिनमें उसने वेद की प्रामाणिकता स्वीकार न करनेवाले वौद्धों का बहुत संघटन किया । मध्वाचार्य ने इस विषय

पर 'जैमिनीय-न्यायमाला-विस्तार' नाम से एक प्रामाणिक प्रश्न लिखा। इस शास्त्र का नाम पूर्व मीमांसा। इसलियं रखा गया है कि कर्मकांड और ज्ञानकांड में से पूर्व (कर्मकांड) का इसमें विवेचन है, इसलियं नहीं कि यह उत्तर मीमांसा (वेदांत) से पहले बना।

उत्तर मीमांसा या वेदांत दर्शन का हमारे इस निर्दिष्ट समय में सबसे अधिक विकास हुआ। व्यास के वेदांत-सूत्र अन्य दर्शन-सूत्र-

प्रांगों की तरह बहुत पहले बन चुके थे। इसका
उत्तर मीमांसा सब से प्राचीन भागुरो-कृत भाष्य आज उपलब्ध
नहीं है। दूसरा भाष्य शंकराचार्य का मिलता है।

शंकराचार्य ने इस युग में धार्मिक और दार्शनिक क्रांति पैदा कर दी। धार्मिक क्रांति का संचित वर्णन हम अन्यत्र कर चुके हैं।

उन्होंने वेदांत में अद्वैतवाद (आत्मा और पर-
शंकराचार्य और मात्मा में भेद न मानना) और मायावाद के
उनका अद्वैतवाद सिद्धांत का इतनी प्रबलता और विद्वत्ता से

प्रतिपादन किया कि प्रायः सभी विद्वान् दंग रह गए। वेदांतसूत्रों में इस मायावाद का विकास नहीं देख पड़ता। पहले पहल शंकराचार्य के गुरु (गांविदाचार्य) के गुरु गौडपाद की कारिकाओं में माया का कुछ वर्णन मिलता है, जिसे शंकराचार्य ने बहुत विकसित कर दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा न्यान दे दिया। एक तरह से वे ही अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य थे। उन्होंने अपनी विद्वत्ता के बल पर प्रस्थानवर्गी—वेदांतसूत्र, उपनिषदों और गीता—का अद्वैतप्रतिपादक भाष्य लिखकर दार्शनिक-मंडली में इस सिद्धांत का बहुत प्रचार किया। शंकराचार्य की अकाल्य तर्कशैली, ललित भाषा में प्रतिपादन-पद्धति और प्रगाढ़ विद्वत्ता ने बहुत से विद्वानों को अद्वैतवादी बना दिया। अद्वैतवाद के प्रचार के लिये उन्होंने केवल पुस्तकों के भाष्य ही नहीं किए, किन्तु संपूर्ण भारत में घृम घृमकर सभी

दार्शनिक मंप्रदायां के वहुत से विद्वानों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया । इससे उनकी विद्वत्ता का सिक्का जम गया । शंकराचार्य-प्रतिपादित वेदांत ही आजकल का वेदांत है ।

इसके सिद्धांतों का संक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक है । न्याय और वैशंषिक ने ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को मानकर ईश्वर का जगन् का कर्ता ठहराया है । मांख्य ने दो ही नित्य तत्त्व स्थिर किए—पुरुष और प्रकृति । वेदांत ने और भी आगे बढ़कर अद्वैत-वाद—निशुद्ध ब्रह्म—की स्थापना की । ब्रह्म ही जगन् का उपादान और निमित्त कारण देनेा है । जगन् में जो विविध दृश्य दीखते हैं वे सब परिणामी और अनित्य हैं । ब्रह्म चित्स्वरूप या आत्मस्वरूप है । सब ज्ञेय पदार्थ भी ब्रह्म के ही संगुण, सोपाधि या मायात्मक रूप हैं । जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं । जगन् और मृष्टि के संबंध में वेदांतियां की कल्पना है कि जगन् ब्रह्म का विवर्त (कल्पित) रूप है । रसी में सर्प की कल्पना की तरह नित्य और शुद्ध ब्रह्म में भ्रमात्मक और नाभ्रम्लपात्मक जगन् की कल्पना की जाती है । यह जगन् न तो ब्रह्म का वास्तविक रूप है और न उसका कार्य या परिणाम ही । माया के कारण ही ब्रह्म भिन्न भिन्न रूपों में दीखता है । ज्ञान से माया नष्ट हो सकती है और विशुद्ध ब्रह्म रह जाता है । यह माया अनिर्वचनीय है ।

इस अद्वैतवाद या मायावाद पर बौद्ध मत का पर्याप्त प्रभाव था, इसी से वहुत से दार्शनिक शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहते हैं । यद्यपि 'बौद्ध धर्म' के हास के साथ बौद्ध दर्शन भी लुप्त मा हो गया था, तथापि उसका संसार को मिथ्या मानने का विचार शंकराचार्य ने उसी तरह जारी रखा । ब्रह्म और वेद की नित्यता आदि मानने तथा बौद्धों के जगन् के मिथ्यावाद के मानने से हिंदुओं और बौद्धों

के लिये यह बाद बहुत आकर्षक सिद्ध हुआ । यही कारण है कि यह संप्रदाय इतना जलदी फैला । शंकराचार्य के भाष्यों पर उनके शिष्यों ने भी कई विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं, जिनका वर्तमान वेदांत संप्रदाय में बहुत महत्त्व है । इस दार्शनिक संप्रदाय की वृद्धि का यह भी कारण हुआ कि उन्होंने इसे धार्मिक संप्रदाय का रूप देकर भारत के चारों कोनों में मठ स्थापित कर दिए, जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है । इन मठों के द्वारा अद्वैतवाद का प्रचार बहुत हुआ । शंकराचार्य के पीछे आनेवाले वेदांतियों ने वेदांत का साहित्य बहुत उन्नत किया ।

शंकराचार्य का यह अद्वैतवाद बहुत समय तक वेदांत संप्रदाय के नाम से चलता रहा । इसमें किसी ने बाधा उपस्थित न की,

रामानुज और
उनका विशिष्टाद्वैत परंतु १२ वीं सदी में रामानुज ने वेदांत संप्र-
दाय में एक नवीन भेद प्रचलित किया । यह शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न था । इसे

हम विशिष्टाद्वैतवाद कह सकते हैं । इसके अनुसार जीवात्मा और जगत् ब्रह्म से भिन्न होने पर भी वास्तव में भिन्न नहीं है । इस सिद्धांत में यद्यपि ब्रह्म, जीवात्मा और जगत् तीनों मूलतः एक ही माने जाते हैं तो भी तीनों कार्य रूप में एक दूसरे से भिन्न और कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त हो जाते हैं । जीव और ब्रह्म का वही संबंध है, जो किरण और सूर्य का है । किरण जिस प्रकार सूर्य से निकलती है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से निकला हुआ है । ब्रह्म एक भी है और अनेक भी । ब्रह्म केवल निमित्त कारण है । जीव उपादान है । इसके बाद जगत् संबंधी विचार सांख्य दर्शन के आधार पर अवलंबित हैं । वास्तव में द्वैत और अद्वैत दोनों के मध्य का यह मार्ग है । इसे 'भेदाभेदवाद' या 'द्वैताद्वैतवाद' भी कहते हैं ।

रामानुज ने वेदांतसूत्रों, गीता और उपनिषदों का 'द्वैतवादमूलक 'श्रीभाष्य' लिखा । उन्होंने भी शंकराचार्य की तरह दक्षिण में एक

संप्रदाय (आस्तिक वैष्णव) का प्रचलन किया, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है । यद्यपि उनका संप्रदाय शंकराचार्य के संप्रदाय के समान नहीं बढ़ा तो भी उसका अच्छा प्रचार हुआ ।

रामानुज के समय में ही मध्वाचार्य ने भी द्वैतवाद का प्रचार कर माध्व संप्रदाय जारी किया । उन्होंने सात प्राचीन उपनिषदों, वेदांत-

मध्वाचार्य और सूत्रों, भगवद्गीता और भागवतपुराण के द्वैत-
उनका द्वैतवाद प्रतिपादक भाष्य तथा कतिपय स्वतंत्र पुस्तकें
लिखीं । उपर्युक्त सब ग्रंथों का उन्होंने द्वैत-
प्रतिपादक भाष्य लिखकर सांख्य और वेदांत को सम्मिलित कर दिया ।
अपने द्वैत के सब सिद्धांतों का संग्रह उन्होंने 'तत्त्वसंख्यान' नामक
ग्रंथ में किया है । उन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति को पृथक् पृथक्
माना है । वेदांत संप्रदाय में शंकराचार्य के वे पूरे विरोधो रहे ।
इस संप्रदाय ने भी दार्शनिक संप्रदाय की अपेक्षा धार्मिक संप्रदाय
का रूप ही अधिक पकड़ा ।

इस तरह हमारे इस निर्दिष्ट काल में वेदांत संप्रदाय का बहुत अधिक विकास हुआ । भिन्न भिन्न आचार्यों ने वेदांत सूत्रों का अपनी अपनी शैली से भाष्य कर कर्त्ता संप्रदाय चलाए । यद्यपि ये संप्रदाय आज भी विद्यमान हैं तो भी शंकराचार्य के अद्वैतवाद का सबसे अधिक प्रचार है और उसका एक परिणाम यह हुआ कि सभी प्राचीन ग्रंथ एक नए दृष्टि-कोण (अद्वैतसूचक) से देखे जाने लगे । मायावाद के इस सिद्धांत ने साधारण हिंदुओं के, जो पहले ही बौद्ध धर्म के कारण जगन् को मिथ्या माने हुए थे, दिलों में घर कर लिया, जिसका प्रभाव आज तक हिंदुओं के दिलों से नहीं गया ।

इन छहों दार्शनिक संप्रदायों के अतिरिक्त उस समय कई और संप्रदाय भी विद्यमान थे । चारवाक संप्रदाय भी बहुत प्राचीन है । इसके सूत्रों का कर्त्ता बृहस्पति प्राचीन काल में हो चुका था । बौद्धों

ने इस नास्तिक और प्रत्यक्ष-प्रधान संप्रदाय को नष्ट करने का वहुत प्रयत्न किया । नहीं कहा जा सकता कि यह संप्रदाय कव तक सुम-

चारवाक गठित रूप में विद्यमान रहा । इतना निश्चित है कि शंकराचार्य के समय में भी यह मत ऐसी

हीन स्थिति को प्राप्त नहीं हुआ था कि उसकी उपेक्षा की जा सके ।

बौद्ध धर्म के हास का प्रारंभ हो चुका था, परंतु उसका दर्शन वहुत समय तक स्थिर रहा । बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के साथ ही

बौद्ध दर्शन उसका दर्शन नहीं बना । वहुत पांछे बौद्ध

विद्वानों ने अपने सिद्धांतों को दार्शनिक रूप देने का प्रयत्न किया । बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का संक्षिप्त विवेचन हम पहले कर चुके हैं ।

जैन संप्रदाय के विद्वानों ने भी अपने सिद्धांतों को दार्शनिक रूप देने में कम यत्र नहीं किया । कुछ समय में ही जैन दर्शन भी

जैन दर्शन पर्याप्त उन्नत और विकसित हो गया । इसके

सिद्धांतों का भी हम पहले विवेचन कर चुके हैं । फिर भी यहाँ उनके मुख्य दार्शनिक सिद्धांत 'स्याद्वाद' का उल्लेख करना आवश्यक है ।

मनुष्य का ज्ञान अनिश्चित है । वह किसी वस्तु के स्वरूप को निश्चित रूप में नहीं जान सकता । अपनी इंद्रियों तथा अंतःकरण की दूरवीन के अनुसार ही वह हर एक वस्तु का स्वरूप निर्माण करता है । इंद्रियों ज्ञान का पर्याप्त साधन नहीं है, एवं यह आवश्यक नहीं कि उसका निर्णीत रूप सत्य हो, यद्यपि वह उसे सत्य समझ रहा हो । इसी सिद्धांत के आधार पर जैनियों के 'स्याद्वाद' का प्रारंभ हुआ है । वे हर एक ज्ञान को सात कोटियों में विभक्त करते हैं । वे ये हैं—(१) स्यादस्ति (संभवतः हो), (२) स्यानास्ति (संभवतः न हो), (३) स्यादमिति च नाम्ति च (संभवतः किसी रूप

में हो, किसी रूप में न हो), (४) स्यादवक्तव्यं (संभवतः शब्दों से उसका वर्णन न किया जा सकता हो), (५) स्यादस्ति चावक्तव्यं (संभवतः हो और शब्दों से उसका वर्णन न किया जा सकता हो), (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यं (संभवतः न हो और उसका वर्णन न किया जा सकता हो), (७) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं (संभवतः किसी रूप में हो, किसी रूप में न हो पर अवर्णनीय हो) । हर एक कोटि संभावना या संशयावस्था में ही हमारं ज्ञान की बोधक है ।

यदि हम भारतवर्ष के इन छः सौं वर्षों के दार्शनिक इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि सभी संप्रदाय विकास पर हैं ।

यदि अद्वैतवाद अपने शिखर पर है, तो द्वैत-
तत्कालीन दार्शनिक वाद भी कम उन्नति नहीं कर रहा है । एक
उन्नति का सिंहावलोकन और यदि मोक्ष, ईश्वर आदि आध्यात्मिक
वातों की चर्चा जेरों पर थी तो दूसरी और चारवाकों का यह कथन—
यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा धृतं पिवेत् ।

भरमीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

चल रहा था । इधर वेदांत, न्याय, योग आदि संप्रदाय ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे थे, तो उधर सांख्य संप्रदाय निरीश्वरवाद के प्रचार में लगा हुआ था । पूर्व मीमांसक यदि कर्मकांड का प्रतिपादन कर रहे थे, तो वेदांती ज्ञान द्वारा ही मोक्ष-प्राप्ति सिद्ध कर रहे थे ।

भारत की इस दार्शनिक उन्नति का युरोपीय दर्शन शास्त्र पर क्या प्रभाव पड़ा, यह एक बड़ा विस्तृत विषय है और हमारे विषय

से यह कुछ बाहर भी है । हमें तो केवल भारतीय दर्शन पर ६०० से १२०० ई० तक के काल पर विचार भारतीय दर्शन का प्रभाव करना है और हमारे दर्शनशास्त्र का जो प्रभाव युरोपीय दर्शन पर पड़ा है, वह इस काल से विशेष संबंध नहीं

रखता । फिर भी इसके अत्यंत आवश्यक होने से यहाँ इसका निर्देश मात्र कर देना अनुचित न होगा ।

प्राच्य दर्शन शास्त्र का ग्रोक (यूनानी) दर्शन पर बहुत प्रभाव पड़ा है । देनों के बहुत से विचारों में समानता पाई जाती है । जेनोफिनस और परमैनिडस के सिद्धांतों तथा वेदांत में बहुत कुछ साम्य है* । सुकरात और प्लैटो का आत्मा के अमरत्व का सिद्धांत प्राच्य दर्शन का ही सिद्धांत है । सांख्य का ग्रीक दर्शन पर प्रभाव स्पष्ट और बहुत संभव है । ऐसा भी माना जाता है कि प्रसिद्ध ग्रीक विद्वान् पैथागोरास तो भारतवर्ष में दर्शन पढ़ने के लिये आया था । वही नहीं, अनेकसर्विस, पिरोह और अन्य कतिपय ग्रीक विद्वान् भी भारतीय दर्शन का अध्ययन करने के लिये यहाँ आए थे† । पैथागोरास ही पुनर्जन्म का सिद्धांत सीखकर ग्रीस में उसका प्रवर्तक हुआ । ग्रीस में प्रचलित प्राचीन कथाओं के अनुसार चेल्स, एंपि-डेक्लिस, डिमॉक्रिटस आदि विद्वानों ने दर्शन पढ़ने के लिये पूर्व की यात्रा की थी‡ । नॉस्टिक (Gnostic) मत पर भी सांख्य का प्रभाव पर्याप्त रूप से पड़ा॥ ।

अंत में हम प्राच्य दर्शन के विषय में कुछ विद्वानों के कतिपय उद्धरण देकर इस विषय का समाप्त करते हैं ।

श्लेगल ने लिखा है कि युरोप का उच्च से उच्च दर्शन, भारतीय दर्शन के दोपहर के प्रकाशमान सूर्य के सामने एक छाटे से टिमटिमाते हुए दीपक के समान है॥ ।

* ए० ए० मैकडानल; इंडियाज पास्ट, पृ० १२६ ।

† डाक्टर एनफील्ड; हिन्दी आफ फिलासफी; जि० १, पृ० ६५ ।

‡ ग्रो० मैकडानल; संकृत लिटरेचर; पृ० ४२२ ।

§ वही; पृ० ४२३ ।

|| हिन्दी आफ लिटरेचर ।

सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर ने लिखा है कि भारतीय दर्शन में ज्ञान और कर्म की, धर्म और अधर्म की समस्या; जड़ चेतन और आत्मा की समस्या, स्वतंत्रकर्तृत्व और परतंत्रता का विचार, ईश्वर और जीव की समस्या, तथा अन्य विचारणीय प्रश्न, जैसे पुण्य, पाप, जीवन में सुख दुःख का विषम विभाग आदि पर भी बहुत विचार किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति, व्यवस्था और विकास के संबंध में भिन्न भिन्न कल्पनाएँ प्रादुर्भूत हुई थीं। वर्तमान विद्वानों के विचार कपिल के विकास सिद्धांत का वढ़ाया हुआ रूप ही हैं*।

श्रीमती डाक्टर बेसेंट लिखती है—भारतीय मनोविज्ञान यूरोपीय मनोविज्ञान से अधिक संपूर्ण है†।

प्रोफेसर मैक्स डंकर ने लिखा है कि हिंदुओं की तार्किक गवेषणाएँ वर्तमान समय की किसी जाति के तर्कशास्त्र से कम नहीं हैं‡।

ज्योतिष

अन्य शास्त्रों की तरह ज्योतिष शास्त्र भी भारत में प्राचीन काल से अत्यंत उन्नत था। वेदों में ज्योतिष के बहुत ऊँचे सिद्धांतों का वर्णन मिलता है। एक ब्राह्मण में लिखा है

ज्योतिष शास्त्र की वर्णन किसी सूर्य वस्तुतः उदय और अस्त नहीं होता, पूर्वकालीन उच्चति परंतु पृथ्वी के घूमने से दिन रात होते हैं§।

प्राचीन काल में यज्ञ यागादि की अधिकता होने से उसके लिये नक्षत्र और काल-निर्णय का ज्ञान सर्व-साधारण में भी प्रचलित था। ज्योतिष भी वेद का एक अंग माना जाता था, जिससे इसका अध्ययन बहुत

* हंटर, इंडियन गैजेटियर, इंडिया, पृ० २१३—१४।

† लैक्चर आन नेशनल यूनिवर्सिटीज इन इंडिया (कलकत्ता) जनवरी १९०६।

‡ हिन्दू आफ एंटिक्वी, जिं० ४, पृ० ३१०।

§१० ए० मैक्डानल, इंडियाज़ पास्ट, पृ० १८।

होता था। इसा से भी पूर्व वृद्ध-गर्ग-संहिता और जैनियाँ की सुरीय-पत्रि आदि ज्योतिष के ग्रंथ बन चुके थे। आश्वलायनसूत्र, पारस्कर गृह्ण सूत्र, महाभारत और मानवधर्मशास्त्र आदि ग्रंथों में ज्योतिष की बहुत सी वाटें उद्धरण रूप में आती हैं। इसा के बाद का सबसे प्रथम और पूर्ण ग्रंथ सूर्य-सिद्धांत था, जो अब उपलब्ध नहीं है। उसका पूरा वर्णन वराहमिहिर ने अपनी 'पंचसिद्धांतिका' में किया है, वही उपलब्ध है। वर्तमान सूर्य-सिद्धांत उससे भिन्न और नवीन है। वराहमिहिर ने (५०५ ई०) अपनी 'पंचसिद्धांतिका' में प्राचीन प्रचलित पाँच सिद्धांतों—पुलिश, रोमक, वसिष्ठ, सौर (सूर्य) और पितामह—का करण रूप से (जिसमें अंकगणित की सहायता से ही ज्योतिष गणना हो सकती है और ज्याचाप कर्म की आवश्यकता नहीं रहती) वर्णन किया है और लाटाचार्य, सिंहाचार्य तथा उसके गुरु, आर्यभट, प्रद्युम्न और विजयनंदी के मर्तों को उद्धृत किया है, जिससे पाया जाता है कि ये विद्वान् उससे पूर्व के हैं; परंतु खेद है कि अब आर्यभट के अतिरिक्त अन्य किसी का ग्रंथ नहीं मिलता। आर्यभट ने, जिसका जन्म ४७६ ई० में हुआ था, 'आर्यभटीय' लिखा। उसने सूर्य और तारों के स्थिर होने तथा पृथिवी के घूमने के कारण दिन और रात होने का वर्णन किया है। उसने पृथिवी की परिधि ४९६७ योजन अर्थात् २४८३५ मील बताई है। उसने सूर्य और चंड के ग्रहण के वैज्ञानिक कारणों की भी व्याख्या की है। इसके बाद एक दूसरा आर्यभट भी हुआ, जिसने 'आर्यसिद्धांत' लिखा और जिसका भास्कराचार्य ने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है।

वराहमिहिर के पाँच सिद्धांतों में से रोमक सिद्धांत बहुत संभवः ग्रांक सिद्धांत है। भारतीय ज्योतिष और यूनानी ज्योतिष में बहुत से सिद्धांत परस्पर मिलते हैं। यह निश्चित करना कठिन है कि किसने किससे कितना साम्भा।

वराहमिहिर के बाद ज्योतिष का प्रधान विद्वान् ब्रह्मगुप्त हुआ। उसने ६२८ ई० के आसपास ‘ब्राह्मस्फुट सिद्धांत’ और ‘खंडखाद्य’

लिखे, उसने प्रायः अपने पूर्व के विद्वानों
६०० ई०—१२०० का समर्थन किया है। उसकी प्रतिपादन-शैली
ई० तक का ज्योतिष अधिक विस्तृत और विधियुक्त है। उसने
साहित्य

ग्यारहवें अध्याय में आर्यभट्ट की आलोचना की
है। इसके कुछ वर्षों बाद प्रसिद्ध लल्ल हुआ, जिसने अपने ‘लल्ल-
सिद्धांत’ में आर्यभट्ट के भूभ्रमण के सिद्धांत का विरोध करते हुए लिखा
है—‘यदि पृथ्वी धूमती होती तो वृक्ष पर से उड़ा हुआ पच्ची अपने
घोंसले पर फिर नहीं जा सकता*’। लेकिन लल्ल को यह मालूम
नहीं था कि पृथ्वी अपने को घेरे हुए वातावरण सहित धूमती है।
यदि उसको यह ज्ञात होता तो वह भूभ्रमण के सिद्धांत का विरोध
न करता। लल्ल के बाद हमारे समय में चतुर्वेद पृथृदक स्वामी
ने ८७८ ई० के आसपास ब्रह्मगुप्त के ‘ब्राह्मस्फुट सिद्धांत’ की टीका
लिखी। १०३८ ई० के करण श्रोपति ने ‘सिद्धांतशेखर’ और
‘धीकोटिद’ (करण); वसुण ने ब्रह्मगुप्त के ‘खंडखाद्य’ पर टीका
और भोजदेव ने ‘राजमृगांक’ (करण) लिखे। ब्रह्मदेव ने ग्यार-
हवीं सदी के अंत में ‘करणप्रकाश’ नामक प्रथ लिखा।

हमारे समय के अंत में प्रसिद्ध ज्योतिषी महेश्वर का पुत्र भास्करा-
चार्य हुआ। उसने ‘सिद्धांतशिरोमणि’, ‘करणकुतूहल’, ‘करण-
केसरी’, ‘प्रहगणित’, ‘प्रहलाघव’, ‘ज्ञानभास्कर’, ‘सूर्यसिद्धांत व्याख्या’
और ‘भास्कर-दीक्षितीय’ लिखे। सूर्यसिद्धांत के बाद ‘सिद्धांत-
शिरोमणि’ एक प्रामाणिक प्रथ भाना जाता है। इसके चार भाग

* यदि च अमति चमा तदा स्वकुलायं कथमाण्युः स्वगाः ।

इष्वोऽभिनभः समुक्तिना विपत्तं त्वयोर्पतेदिष्टि ॥

लीलावती, बीजगणित, प्रहगणिताध्याय और गोलाध्याय हैं। पहले दो तो गणित संबंधी हैं और पिछले दो ज्योतिष से संबंध रखते हैं। भास्कराचार्य ने इस ग्रंथ में पृथ्वी के गोल होने और उसमें आकर्षण-शक्ति होने के सिद्धांतों का प्रतिपादन बहुत अच्छी तरह किया है। वह लिखता है—

“गोले की परिधि का सौवाँ भाग एक सीधी रेखा प्रतीत होता है। हमारी पृथ्वी भी एक बड़ा गोला है। मनुष्य को उसकी परिधि का एक बहुत ही छोटा भाग दीखता है, इसी लिये वह चपटी दीखती है*।”

“पृथ्वी अपनी आकर्षण शक्ति के जोर से सब चीजों को अपनी ओर खींचती है। इसी लिये ममी पदार्थ उम पर गिरते हुए नजर आते हैं†।”

न्यूटन से कई शताब्दियों पहले ही भास्कराचार्य ने आकर्षण का यह सिद्धांत (Theory of gravitation) इतनी उत्तमता से लिख दिया है कि उसे देखकर आश्चर्य होता है। इसी तरह उसने ज्योतिष के अन्य सिद्धांतों का भी बहुत अच्छी तरह वर्णन किया है।

इस तरह हमारं निर्दिष्ट काल में ज्योतिष शास्त्र बहुत उन्नत हो चुका था। अलब्रेह्टनी ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में हमारे ज्योतिष शास्त्र की उत्त्रति तथा उसके कुछ सिद्धांतों का उल्लेख किया है। डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर के कथनामुसार द वीं मर्दी में अरब के विद्वानों ने भारत से ज्योतिष सीखी और सिद्धांतों का ‘सिद्धिंद’ नाम से

समो यनः स्याद्वरिष्ये: शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां ननीयात् ।

भरतच नन्पृष्ठगतम्य द्वृत्त्वा समेव तस्य प्रतिभाव्यनः सा ॥

मिद्दांनशिंगमग्नि-गोलाध्याय ।

* आकृष्टशक्तिच महा तता यन ग्वम्यं गुरु भास्मिमुखं स्वशक्त्वा ।

आकृष्टयने तत् पतनाय भास्मि समन्वान क पतन्विष्यं दे ॥

अरबी में अनुवाद किया* । खलोफा हारूँ रशीद और अलमामू ने भारतीय ज्योतिषियों को अरब में बुलाकर उनके ग्रंथों का अरबी में अनुवाद कराया† । हिंदू भी ग्रोकों की तरह अस्वीं के गुरु थे । आर्यभट्ट के ग्रंथों का अनुवाद कर 'अर्जवहर' नाम रखा गया‡ । चीन में भी भारतीय ज्योतिष का बहुत प्रचार हुआ । प्रोफेसर विश्वन ने लिखा है—'भारत में मिलनेवाली, क्रांतिवृत्त का विभाग, सौर और चांद्रमासों का निरूपण, ग्रहगति का निर्णय, अयनांश का विचार, सौरराशिमंडल, पृथ्वी की निराधार अपनी शक्ति से स्थिति, पृथ्वी की अपने अन्त पर दैनिक गति, चंद्र का भ्रमण और पृथ्वी से उसका अंतर, प्रहों की कक्षा का मान तथा ग्रहण का गणित आदि ऐसी बातें हैं, जो अशिक्षित जातियों में नहीं पाई जाती'§ ।

भारत में अत्यंत प्राचीन काल से लोगों का फलित ज्योतिष पर विश्वास रहा है । ब्राह्मणों और धर्मसूत्रों में भी इसका कहीं कहीं फलित ज्योतिष उल्लेख पाया जाता है । इसके प्राचीन ग्रंथ नहीं मिलते । बहुत संभव है कि वे नष्ट हो गए हों । वृद्धगर्ग-संहिता में भी इसका कुछ उल्लेख मिलता है । वराह-मिहिर के कथनानुसार ज्योतिष शाखा तंत्र, होरा और शाखा तीन विभागों में विभक्त है । तंत्र या सिद्धांत ज्योतिष का वर्णन ऊपर किया जा चुका है । होरा और शाखा का संबंध फलित ज्योतिष से है । होरा में जन्म-कुंडली आदि से मनुष्य के जीवन संबंधी फल-फल का विचार रहता है । शाखा या संहिता में धूम्रकेतु, उल्का-पात, शकुन, और मुहूर्त आदि का विवेचन होता है । वराहमिहिर

* हंटर; इंडियन गेजेटियर-इंडिया; पृ० २१८ ।

† मिल; हिस्ट्री आफ इंडिया; जिल्ड २, पृ० १०७ ।

‡ वेबर; इंडियन लिटरेचर; पृ० २५२ ।

§ मिल; हिस्ट्री आफ इंडिया; जिल्ड २, पृ० १०७ ।

की बृहन्संहिता फलित ज्योतिष के लिये मुख्य ग्रंथ है। इसमें मकान बनाने, कूप और तालाव खोदने, बाग लगाने, मूर्ति-स्थापना आदि के लिये बहुत से शक्ति दिए हैं। विवाह और दिग्मिजय के लिये प्रस्थान के संबंध में उसने कई ग्रंथ लिखे। फलित ज्योतिष पर 'बृहज्जातक' नाम से भी उसने एक बड़ा ग्रंथ लिखा, जो बहुत प्रसिद्ध है। ग्रह और नक्षत्रों की स्थिति देखकर मनुष्य का भविष्य बताना इस पुस्तक का मुख्य विषय है। ६०० ई० के करीब वराह-मिहिर के पुत्र पृथुयशा ने 'हाराषटपंचाशिका' नामक फलित ज्योतिष संबंधी एक पुस्तक लिखी। दसवीं शताब्दी में भट्टोत्पल ने उपर्युक्त पुस्तक तथा वराहमिहिर के ग्रंथों पर बहुत उच्चम और विस्तृत टीकाएँ लिखीं। श्रीपति (१०३८ ई०) ने भी इस संबंध में रक्माला' और 'जातकपद्धति' ग्रंथ लिखे। इसके पीछे भी इस विषय के बहुत से ग्रंथ लिखे गए।

गणित

ज्योतिष के इस विकास के साथ गणित शास्त्र का विकास भी होना आवश्यक था। हम देखते हैं कि ६०० ई० तक भारतवर्ष भारतीय गणित शास्त्र में पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था। उसने ऐसे ऐसे उच्च मिळालों का आविष्कार कर लिया था, जिनका यूरोपियन विद्वानों को कई सदियां पीछे ज्ञान हुआ। प्रसिद्ध विद्वान् काजारी ने अपनी 'हिस्ट्री ऑफ मैथ-मैटिक्स' में लिखा है—‘यह ध्यान देने की वात है कि भारतीय गणित ने हमारे वर्तमान विज्ञान में किस हद तक प्रवेश किया है। वर्तमान बीजगणित और अंकगणित दोनों की विधि और भाव भारतीय हैं, यूनानी नहीं। गणित के उन संपूर्ण और शुद्ध चिह्नों,

(१०८)

भारतीय गणित की उन क्रियाओं, जो आज प्रचलित क्रियाओं की तरह संपूर्ण हैं और उनके वौजगणित की विधियों पर विचार तो करा और किर सेचा कि गंगा के तीर पर रहनेवाले ब्राह्मण किस श्रेय के भागी नहीं हैं? दुर्भाग्य से भारत के कई अमूल्य आविष्कार यूरोप में बहुत पोछे पहुँचे, जिनका प्रभाव, यदि वे दो तीन सदी पहले पहुँचते तो बहुत पड़ता”।

इसी तरह डि मार्गन ने लिखा है—“हिंदू गणित यूनानी गणित से बहुत उच्च कोटि का है। भारतीय गणित वह है, जिसे हम आज प्रयुक्त करते हैं।”

गणित पर सामान्य रूप से विचार करने से पूर्व अंक विद्या पर विचार करना अधिक लाभप्रद और उपयोगी होगा।

भारतवर्ष ने अन्य देशवासियों को जो अनंक वाले सिखलाई, उनमें सबसे अधिक महत्त्व अंक-विद्या का है। संसार भर में गणित,

ज्योतिष, विज्ञान आदि में आज जो उन्नति पाई अंक-क्रम का विकास जाती है उसका मूल कारण वर्तमान अंक-क्रम है, जिसमें एक से नौ तक के अंक और शून्य, इन दस चिह्नों से अंक-विद्या का सारा काम चल जाता है। यह क्रम भारतवासियों ने ही निकाला और उसे सारं संसार ने अपनाया। हिंदी के पाठकों में से कदाचित् थोड़े ही यह जानते होंगे कि इस अंक-क्रम के निर्माण से पूर्व संसार का अंक-क्रम क्या था और वह गणित ज्योतिष एवं विज्ञान आदि की उन्नति के लिये कितना वाधक था? इसलिये यहाँ संक्षेप से संसार के प्राचीन अंक-क्रम का विवेचन कर वर्तमान अंकों की भारतीय उत्पत्ति के संबंध में कुछ कहना अनुचित न होगा।

भारतवर्ष के प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों, सिक्कों तथा हस्त-लिखित पुस्तकों आदि के देखने से पाया जाता है कि प्राचीन काल

में हमारे यहाँ का अंक-क्रम वर्तमान क्रम से बिलकुल ही भिन्न था । उसमें १ से ₹ तक के अंकों के नाँचिह्न, १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८० और ९० के नौ चिह्न तथा १०० और १००० के लिये एक एक चिह्न नियत थे । इन्हीं वीस चिह्नों से ₹८८८८८८ तक की संख्या प्रदर्शित की जाती थी । उस काल में लाख कराड़ आदि के लिये क्या चिह्न थे, इसका निश्चित रूप से अब तक कोई पता नहीं लगा । इन अंकों के लिखने का क्रम १ से ₹ तक तो वैसा ही था जैसा अब है । १० के लिये नवीन शैली की तरह १ के साथ ० नहीं, वरन् एक नियत चिह्न ही लिखा जाता था । ऐसे ही २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, १०० और १००० के लिये भी अपने अपने नियत चिह्न ही रहते थे । ११ से ₹८८ तक लिखने का क्रम ऐसा था कि पहले दहाई का अंक लिखकर उसके आगे इकाई का अंक लिखा जाता था, जैसा कि १५ के लिये १० का चिह्न लिखकर उसके आगे ५; और ३३ के लिये ३० और ३ इत्यादि; २०० के लिये १०० का चिह्न लिखकर उसकी दाहिनी ओर कभी ऊपर कभी मध्य और कभी नीचे को तरफ एक सीधी (तिरछी) रेखा जोड़ी जाती थी । ३०० के निन्द्र के लिये १०० के चिह्न के साथ वैसी ही दो लकों जोड़ी जाती थी । ४०० से ₹५०० तक के लिये १०० का चिह्न लिखकर उसके साथ क्रमशः ४ से ₹ तक के अंक एक छोटी सी आड़ी लकोर से जोड़ दिए जाते थे । १०१ से ₹८८८८८८ तक लिखने में सैंकड़े के अंक के आगे दहाई और इकाई के अंक लिखे जाते थे, जैसे कि १२८ के लिये १००, २० और ₹; ₹५५ के लिये ₹००, ५० और ५ । यदि ऐसे अंकों में दहाई का अंक न हो तो सैंकड़े के बाद इकाई का अंक रखा जाता था, जैसे कि ३०१ के लिये ३०० और १ । २००० के लिये १००० के चिह्न की दाहिनी ओर ऊपर को एक छोटी सी सीधी आड़ी (या नीचे को

मुड़ी हुई) लकीर जोड़ी जाती थी और ३०० के लिये बैसी ही दो लकीरें, ऐसे ही ₹८८८८८ लिखने हों तो ₹१००००, ₹१०००, ₹१००, ₹१० और ₹८ लिखते थे ।

भारतवर्ष में अंकों की यह प्राचीन शैली कव से प्रचलित हुई, इसका पता नहीं चलता, परंतु अशोक के सिद्धापुर, सहस्राम और रूपनाथ के लेखों में इस शैली के २००, ५० तथा ६ के अंक मिलते हैं, जिनमें २०० का अंक तीनां लेखों में बिलकुल ही भिन्न प्रकार का है और ५० तथा ६ के दो दो प्रकार के रूप मिलते हैं ।

भारतवर्ष के इस जटिल अंक-क्रम की अपेक्षा मिश्र का सबसे पुराना अंक-क्रम हि-एराग्लिफिक (चित्रलिपि) अधिक जटिल था । उसमें मूल अंकों के चिह्न केवल तीन अर्थात् १, १० और १०० के थे । इन्हीं तीन चिह्नों को कई बार लिखने से ₹८८८ तक के अंक बनते थे । १ से ₹८ तक के अंक एक के चिह्न (खड़ी लकीर) को क्रमशः १ से ₹८ बार लिखने से बनते थे । ११ से १८८ तक के लिये १० के चिह्न के बाईं ओर क्रमशः १ से ₹८ तक खड़ी लकीरें खींचते थे । २० के लिये १० का चिह्न दो बार और ३० से ₹८० तक के लिये क्रमशः तीन से नौ बार लिखा जाता था । २०० बनाने के लिये १०० के चिह्न को दो बार लिखते थे । उसी तरह तीन सौ के लिये तीन बार लिखते थे । इस क्रम में १००० से १०००० के लिये भी एक एक चित्र था और लाख के लिये मैंठक और दस लाख के लिये हाथ फैलाए हुए पुरुष का चित्र था । मिस्र का सबसे पुराना अंक-क्रम यही था, जो हमारे अंक-क्रम से भी अधिक जटिल और गणना की बिलकुल प्रारंभिक अवस्था का सूचक था ।

फिनिशियन अंक भी इसी से निकले हैं, जिनका क्रम भी ऐसा ही है, केवल दस के चिह्न को बार बार लिखने की रीति को कुछ सरल बनाने के लिये उसमें २० के अंक के लिये नवीन चिह्न बनाया

गया, जिससे ३० के लिये २० और १०, ८० के लिये २०, २०, २०, २० और १० लिखने पड़ते थे :

पीछे से मिस्रवालों ने किसी सरल विदेशी अंक-क्रम को देखकर अथवा अपनी बुद्धि से अपने भद्रे हिएरेंगिलिफिक अंक-क्रम को सरल करने के लिये भारतीय अंक-क्रम जैसा नवीन क्रम बनाया, जिससे १ से ८ तक के लिये नौ, १० से ८० तक दहाइयों के लिए नौ और १०० तथा १००० के लिये एक एक चिह्न स्थिर किया। इस अंक-क्रम को हिएरेटिक कहते हैं और इसमें भी ऊपर के दोनों क्रमों के समान अंक दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखे जाते थे।

डिमांटिक अंक हिएरेटिक से ही निकले हैं और इन दोनों में अंतर बहुत कम है, जो समय के साथ हुआ हो।

यूरोप में भी प्राचीन काल में ग्रीक लोग केवल दस हजार तक की संख्या जानते थे और रोमन लोग एक हजार तक की। उनके अंक-क्रम का प्रचार अब तक कभी कभी प्रकाशित पुस्तकों में सन् लिखने में, भूमिका में पृष्ठ-संख्या बतलाने के लिये अथवा घड़ियों में अंक बतलाने में प्रचलित हैं। उसमें १, ५, १०, ५०, १०० तथा १००० के चिह्न हैं, जिनको रोमन अंक कहते हैं। आजकल सब पढ़े लिखे मनुष्य रोमन अंकों से परिचित हैं, इससे उनके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। इन सब प्राचीन अंक-क्रमों से ज्योतिष, गणित और विज्ञान की विशेष उन्नति होने की कोई संभावना नहीं थी। संसार की वर्तमान उन्नति इन्हीं नवीन अंक-क्रमों से हुई है। यह उपर्योगी अंक-क्रम भारतवासियों ने ही निर्माण किया। इस क्रम में दाहिनी से बाईं ओर हटने पर प्रत्येक अंक का स्थानीय मूल्य दस गुना बढ़ जाता है, जैसे ११११११ में छहों अंक १ के हो जाएं, परंतु पहले से (दाहिनी ओर से लेने से) १, दृमर से १०, तीमर से १००, चौथे से १०००, पाँचवें से १००००

और छठे से १००००० का वोध होता है। इसी से इस संख्या-सूचक क्रम को दशगुणोन्तर संख्या कहते हैं और वर्तमान समय में बहुता संसार का अंक-क्रम यही है। यह अंक-क्रम भारतवासियों ने कब निकाला इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। प्राचीन शिला-लेखों और दानपत्रों के लिखनेवालों ने पुराने ढर्ण पर चलकर ई० स० की छठी शताब्दी तक के लेखादि में पुरानी शैली से ही अंक दिए हैं। सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक के शिलालेखादि लिखनेवालों में से किसी ने प्राचीन तो किसी ने नवीन शैली का अनुकरण किया है; परंतु गणितकार नवीन क्रम का व्यवहार छठी शताब्दी के बहुत पहले से करने लगे थे। वराहमिहिर की 'पंचसिद्धांतिका' में सर्वत्र अंक नवीन शैली से ही दिए गए हैं। इससे निश्चित है कि ई० स० की पाँचवीं शताब्दी के अंत में तो ज्योतिषी लोग नवीन शैली के अंकों का व्यवहार करते थे। भट्टोत्पल ने 'बृहन्संहिता' की टीका में कई जगह 'पुलिशसिद्धांत' से, जिसका वराहमिहिर ने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है, वचन उद्भूत किए हैं। उसने एक और स्थान पर 'मूल पुलिशसिद्धांत' के नाम से एक श्लोक भी उद्भूत किया है। उन दोनों में अंक वर्तमान शैली से ही मिलते हैं। इससे जान पड़ता है कि वराहमिहिर के पूर्व भी इस शैली का प्रचार था।

योग सूत्र के प्रसिद्ध भाष्य में व्यास ने (ई० स० ३०० के आसपास) दशगुणोन्तर अंक-क्रम का बहुत स्पष्ट उदाहरण दिया है। जैसे एक का अंक '१', सैकड़े के स्थान पर १०० के लिये, दहाई के स्थान पर १० के लिये और इकाई के स्थान पर एक के लिये प्रयुक्त होता है। बख्शाली गाँव (युसुफजई जिले, पंजाब में) से भोजपत्र पर लिखी हुई एक प्राचीन पुस्तक जमीन में गड़ी हुई मिली है, जिसमें अंक नवीन शैलों से ही दिए हैं। प्रसिद्ध विद्रान डाक्टर हार्नली ने उसका रचना-काल तीमरी अथवा चौथी शताब्दी होना

अनुमान किया है। इस पर डा० वूलर ने लिखा है कि यदि अंक-गणित की प्राचीनता का हॉर्नली का यह बहुत संभावित अनुमान ठीक हो तो उम (अंक-क्रम) के निर्माण का समय १० स० के प्रारंभकाल अथवा उससे भी प्राचीन काल का होगा। अभी तक तो नवीन शैली के अंकों की प्राचीनता का यहाँ तक पता चला है।

शून्य की योजना कर नौ अंकों से गणित शास्त्र को सरल करने-वाले नवीन शैली के अंकों का प्रचार पहले पहल किस विद्वान् ने किया इसका कुछ पता नहीं चलता। केवल यही पाया जाता है कि नवीन शैली के अंकों की सृष्टि भारत में हुई। फिर यहाँ से अरबों ने यह क्रम सीखा और अरबों से उसका प्रवेश यूरोप में हुआ। इससे पहले एशिया और यूरोप की चालिङ्गन, हिन्दू, ग्रीक, अरब आदि जातियाँ वर्णमाला के अन्तरें से अंकों का काम लेती थीं। अरबों में खलीफा वलीद के समय (१० स० ७०५-७१५) तक अंकों का प्रचार नहीं था, जिसके बाद उन्होंने भारतवासियों से अंक लिए*।

इस विषय में अँगरेजी विश्वकोष 'एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में लिखा है "इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे (अँगरेजी) वर्तमान अंक-क्रम (दशगुणोन्तर) की उत्पत्ति भारतीय है : संभवतः खगोल-संबंधी उन सारणियों के माध्य, जिनको एक भारतीय राजदूत १० स० ७७३ में बगदाद में लाया, इन अंकों का प्रवेश अरब में हुआ। फिर १० स० की नवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में प्रसिद्ध अब्युक्तर मुहम्मद अल-खारिजी ने अरबी में उक्त क्रम का विवेचन किया और उसी समय से अरबों में उसका प्रचार बढ़ने लगा।"

"यूरोप में शून्य सहित यह संपूर्ण अंक-क्रम १० स० की बागहवीं शताब्दी में अरबों से लिया गया और इस क्रम से बना हुआ

* प्राचीन और नवीन अंक-क्रम के विस्तृत विवरण के लिये देखें भारतीय प्राचीन लिपिमाला; पृ० ११०-११८।

अंकगणित अल्गोरिट्मस (अल्गोरिथम) नाम से प्रसिद्ध हुआ । यह (अल्गोरिट्मस) विदेशी शब्द 'अल्गोरिज्मी' का अन्तर्रांतर मात्र है, जैसा कि रेनाँड ने अनुमान किया था और उक्त अरब गणित शास्त्र की अनुपलब्ध अंकगणित की पुस्तक के कैवित्रि से मिले हुए अद्वितीय हस्तलिखित अनुवाद के, जो संभवतः एडलहर्ड का किया हुआ है, प्रसिद्ध होने के बाद वह (अनुमान) प्रमाणित हो गया है । खारिज्मी के अंकगणित के प्रकारों को पिछले पूर्वी विद्वानों ने सरल किया और उन अधिक सरल किए हुए प्रकारों का पश्चिमी युरोप में पीसा के लिंगोनाडों ने और पूर्वी में मॉक्सिसमम् लैनुडंस ने प्रचार किया । 'जीरो' शब्द की उत्पत्ति अरबी के 'सिफर' से, लिंगोनाडों के प्रयुक्त किए हुए 'जिफिरो' शब्द द्वारा प्रतीत होती है* ।"

प्रसिद्ध विद्वान् अल्बेर्लनी ने लिखा है—“हिंदू लंग अपनी वर्णमाला के अन्तरां को अंकों के स्थान में काम में नहीं लाते, जैसे कि हम हिन्दू वर्णमाला के क्रम से अरबी अन्तरां को काम में लाते हैं । भारतवर्ष के अलग अलग विभागों में जैसे अन्तरां की आकृतियाँ भिन्न हैं, वैसे ही संख्या-सूचक चिह्नों की भी आकृतियाँ, जिनका अंक कहते हैं, भिन्न हैं । जिन अंकों को हम काम में लाते हैं वे हिंदुओं के सब से सुंदर अंकों से लिए गए हैं ।…………जिन भिन्न भिन्न जातियों से मेरा संपर्क रहा, उन सब की भाषाओं के संख्यासूचक क्रम के नामों (इकाई, दहाई, सैकड़ा आदि) का मैंने अध्ययन किया है, जिससे मालूम हुआ कि कोई जाति एक हजार से आगे नहीं जानती । अरब लोग भी एक हजार तक (नाम) जानते हैं ।…………इस विषय में मैंने एक अलग पुस्तक लिखी है । अपने अंक-क्रम में, जो हजार से अधिक जानते हैं, वे हिंदू हैं ।…………वे संख्यासूचक क्रम को अठारवें स्थान तक ले जाते हैं, जिसको परार्द्ध कहते हैं । अंक-

* एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका; जिल्द १७, पृष्ठ ६२६ ।

(११४)

गणित में हिंदू लोग अंकों का उसी तरह प्रयोग करते हैं जैसे कि हम करते हैं। मैंने एक पुस्तक लिखकर यह बतलाया है कि इस विषय में हिंदू हमसे कितने आगे बढ़े हुए हैं* ।

गणित-विषयक जो पुस्तकें उपलब्ध होती हैं, वे प्रायः ज्यातिष्ठ के उन्हीं विद्यानों की हैं, जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।

अंकगणित आर्यभट की पुस्तक के प्रथम दो भाग; 'त्राह्ण-स्फूटसिद्धांत' में गणिताध्याय और कृतकाध्याय

तथा 'सिद्धांतशिरोमणि' में लीलावती और वीजगणित नामक अध्याय गणित से संबंध रखते हैं। इन पुस्तकों को देखने से पता लगता है कि वे गणित के सभी उच्च सिद्धांतों से परिचित थे। सरल गणित कं आटों नियमों—योग, भ्रण, गुणा, भाग, वर्गीकरण, घनीकरण, वर्गमूल और घनमूल—का उनमें पूर्ण वर्णन मिलता है। इसके बाद भिन्न संबंधी, शून्य संबंधी, चेत्रफल, कार्य-संबंधी, त्रैराशिक, श्रेढ़ी, कुट्टक तथा अनंत राशियों के मान-संबंधी अर्थात् शून्य गणित और व्याज संबंधी नियमों का भी वर्णन मिलता है।

केवल अंक गणित ही नहीं, ज्यातिप के लिये बीजगणित का भी उपयोग बहुत किया जाता था। उपर्युक्त प्रस्तुकों में हम बीजगणित

के बहुत उन्नत मिद्धांत देखते हैं। यह भी

यहाँ विकसित हुआ था। श्रायुत काजारा ने लिखा है कि 'बीजगणित के प्रथम यूनानी विद्वान् डायोफैट ने भी भारत से ही इस संबंध में पहले पहल ज्ञान प्राप्त किया।' भारत ने बीजगणित यूनान से सीखा, यह ठीक नहीं है। भारतीय और यूनानी बीजगणित में बहुत से भेद हैं। भारत ने बारहवीं सदी तक बीज-गणित संबंधी जो नियम आविष्कृत किए थे, वे यूरोप में सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में प्रचलित हुए। भारतीयों ने बीजगणित में

बहुत से मुख्य नियम आविष्कृत कर लिए थे जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

- १—अण राशियों के समीकरण की कल्पना ।
- २—वर्ग-समीकरण को सरल करना ।
- ३—चंक-पाश के नियम (यूनानी इन्हें नहीं जानते थे) ।
- ४—एक वर्ग और अनेक वर्ण समीकरण ।
- ५—केंद्र फल का निर्णय करना, जिसमें व्यक्त और अव्यक्त गणित का विकास हो ।

भास्कराचार्य ने यह भी सिद्ध किया है—

$$x \times 0 = 0; 0 = 0; \sqrt{0} = 0; 0 \div 0 = 0.$$

भारतवर्ष से ही वीजगणित भी अरबों के द्वारा यूरोप में गया । प्रो० मोनियर विलियम्स कहते हैं कि वीजगणित और ज्यामिति तथा खगोल में उनका व्योग भारतीयों ने ही आविष्कृत किया है* । मूसा और याकूब ने भारतीय वीजगणित का प्रचार अरब में किया था । अरब से यूरोप में इसका प्रचार हुआ† ।

इसी तरह रेखागणित में भी भारत ने बहुत उन्नति की थी । भारत का प्राचीनतम रेखागणित वैधायन और आपस्तंब के शुल्वसूत्रों में पाया जाता है । यज्ञवेदियों और कुंडों के रेखागणित वनाने में इसका बहुत उपयोग होता था । यज्ञ और संस्कार करानेवाले पुरोहित जानते थे कि आयत का चेत्रफल वर्ग में और वर्ग का चेत्रफल वृत्त में किस तरह लाया जाता है । यह भी यूनानी प्रभाव से विलकूल मुक्त था । रेखागणित की कुछ सिद्धियाँ हम नीचे देते हैं, जो हमारे समय तक ज्ञात हो चुकी थीं—

* हिंदियन विजडम; पृ० १८५ ।

† विनयकुमार सरकार; हिंदू एन्ड्रीवमेट्रस इन एक्जैट साइंसेज़;
पृ० १२—१५ ।

- १—पैथागोरस की सिद्धि अर्थात् समकोण त्रिभुज की दो भुजाओं का वर्गों का योग कर्ण के वर्ग के वरावर होता है ।
- २—दो वर्गों के योग या अंतर के समान वर्ग बनाना ।
- ३—किसी भी आयत को वर्ग में परिणत करना ।
- ४—✓ का वास्तविक मान और राशियों का मध्यमाहरण ।
- ५—वर्गों को वृत्त में परिणत करना ।
- ६—वृत्त का चेत्रफल ।
- ७—विषम चतुर्भुज में करणान्यन की विधि ।
- ८—त्रिभुज, वृत्त और विषम चतुर्भुज का चेत्रफल ।
- ९—ब्रह्मगुप्त ने वृत्तवृंड की ज्या तथा उस पर से सिंचे हुए कोटंड तक के लंब के मालूम होने पर व्याम और वृत्तवृंड का चेत्रफल निकालने के नियम भी दिए हैं ।
- १०—शंकु और वर्तुलाकार पदार्थों का चेत्रफल ।
- भास्कराचार्य ने अपने पूर्व के वहूत से गणित के विद्वानों—आर्य-भट, लङ्घ, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, महावीर (८५०-ई०), श्रीधर (८५३-ई०), आर्यभट (द्वितीय) और उत्पल (९७०-ई०)—के स्थिर किए हुए नियमों का सार देकर उनकी कृति वत्सलाइ है । वीजगणित की भाँति याकूब ने ही भारतीय रेखगणित का चार अरब में किया* ।
- प्राचीन भारतीय त्रिकोणमिति से भी पृष्ठतया परिनिर्दित थे । उन्होंने ज्या (Sine) और उत्कम ज्या (Versed sine) की सारणियाँ त्रिकोणमिति वना ली थीं । इन सारणियों में वृत्तपाद के चौकोणित भाग तक का प्रयोग है । दोनों सारणियों में अभिन्न मान से ज्या और उत्कम ज्या का परिदर्शन मिलता है : इस त्रिकोणमिति का प्रयोग ज्योतिष के लिये होता था ।

(११६)

वाचस्पति ने चापोंय घनचेत्र निकालने का साधन विलकुल मौलिक रीति से दिया है। इसी तरह न्यूटन से पाँच शताब्दी पूर्व चलन गणित का आविष्कार कर भास्कराचार्य ने उसे ज्योतिष में प्रयुक्त किया था। श्रीयुत व्रजेन्द्रनाथ सील के कथनानुसार भास्कराचार्य राशियाँ के तात्कालिक गणित साधन में आर्किमीडिस से अधिक शुद्ध और प्रबल हैं। भास्कराचार्य ने ग्रह की चलिक गति की गणना करते हुए एक सेकंड के ३३७५ वें भाग—त्रुटि—का भी उल्लेख किया है।

भारतीय, भूगोल और ग्रहमंडल-संवंधी गतिशास्त्र से भी परिचित थे। स्थितिशास्त्र (Statics) और गतिशास्त्र (Dynamics) से भी भारतीय कुछ न कुछ परिचित अवश्य थे* :

आयुर्वेद

आयुर्वेद भी बहुत प्राचीन काल से भारतवर्ष में अत्यंत उन्नत था। वैदिक साहित्य में हम शरीर-विद्या, गर्भविद्या और स्वच्छता का मूल देखते हैं। अर्थवर्वेद में रोगों के नाम और आयुर्वेद का साहित्य उनके लक्षण तक ही नहीं, किंतु मनुष्य के शरीर की हड्डियाँ तक की पूरी संख्या दी है। वैद्यक काल में वैद्यक का बहुत विकास हुआ। अशोक के पार्वतीय लेखों के दूसरे प्रज्ञापन में पशु-चिकित्सा और मनुष्य-चिकित्सा एवं मनुष्यों और पशुओं के उपयोग की औषधियाँ का उल्लेख है। चीनी तुकिस्तान से ३५० ई० के आसपास के भोजपत्र पर लिखे संस्कृत शंश मिले हैं, जिनमें से तीन आयुर्वेद संबंधी हैं। आयुर्वेद के प्राचीन विद्वानों में चरक का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उसके समय और निवास स्थान के

* विनयकुमार सरकार; हिंदू एचीवेंट्स इन प्रक्रियेट साइंसज़; पृ० २०-२७।

विषय में ऐतिहासिकों में मतभेद है। उसकी 'चरकसंहिता' अग्निवेश के आधार पर लिखी गई है। 'चरकसंहिता' वैद्यक का अत्यंत उत्कृष्ट ग्रन्थ है। 'सुश्रुत-संहिता' भी एक बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका कम्बोडिया में नवीं तथा दसवीं शताब्दी में प्रचार हो चुका था। यह ग्रन्थ पहले सूत्रों में लिखा गया था। ये दोनों ग्रन्थ हमारे समय के पूर्व के हैं।

हमारे निर्दिष्ट काल के प्रारंभ के दो आयुर्वेद के ग्रन्थ 'अष्टांग-संग्रह' और 'अष्टांग-हृदय-संहिता' हैं। वृद्ध वाग्मट्ट ने 'अष्टांग-संग्रह' संभवतः सातवीं सदी के आस पास लिखा था। दूसरे ग्रन्थ का कर्ता भी वाग्मट्ट ही है, जो पहले से भिन्न है और संभवतः ८०० ई० के आस पास हुआ था। इसी समय इंदुकर के पुत्र माधव-कर ने 'हणिवनिश्चय' या 'माधवनिदान' नामक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ आज भी निदान के संबंध में बहुत प्रामाणिक समझा जाता है। इसमें रोगों के निदान आदि पर बहुत विस्तार से विचार किया गया है। बुंद के 'सिद्धियोग' में ज्वर आदि के समय विधों के परिणाम आदि पर अच्छा विचार किया गया है। १०६० ई० में वंगाल के चक्रपाणि दत्त ने 'सुश्रुत' और 'चरक' की दोनों लिखनों के अतिरिक्त 'सिद्धियोग' के आधार पर 'चिकित्सा-सार-संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा। हमारे समय के अंत में १२०० ई० के करीब शार्ङ्गधर ने 'शार्ङ्गधर संहिता' लिखी। उसमें अफीम और पारे आदि औषधियों के वर्णन के अतिरिक्त नाड़ी-विज्ञान के भी नियम दिए हैं। पारे का उस समय बहुत प्रचार था। अलबैर्लनी ने भी पारे का वर्णन किया है। बनस्पति शास्त्र के संबंध में कई कोश भी लिखे गए, जिनमें 'शान्द्रप्रदीप' और 'निधंदु' प्रसिद्ध हैं। हमारे यहाँ शरीर-विद्या (Anatomy) बहुत उन्नत थी। उस समय के ग्रन्थों में हड्डियाँ, नाड़ियाँ और सूक्ष्म शिराओं आदि का पूर्ण विवेचन मिलता है।

शल्यविद्या का भी उस समय आश्चर्यजनक विकास हो चुका था । 'सुश्रुत' में शल्यविद्या का बहुत वर्णन मिलता है । ऋग्वेद में आयुर्वेद के जन्मदाता तीन आचार्यों—दिवोदास, शल्यविद्या का विकास भारद्वाज और अश्विनी—का उल्लेख है* ।

नहाभारत में भी भोष्म के शरणश्या पर लेटने पर दुर्योधन का शल्य निकालनेवाले वैद्यों के लाने का उल्लेख है : विनयपिटक के महावग में लिखा है—“अश्ववंष ने एक भिन्नु के भगंदर रोग पर शल्यकर्म का प्रयोग किया था† ।” उस समय जीवक नाम का वैद्य भिन्नक् आयुर्वेद का विशेषतः शल्यचिकित्सा का बड़ा भारी विद्वान् हुआ, जिसका विस्तृत वर्णन महावग में मिलता है : उसने भगंदर, शिररोग कामला आदि विषम रोगों के आराम करने में प्रसिद्धि पाई थी । भोज-प्रवंध में बेहोश कर शल्य कर्म करने का उल्लेख है । चीर फाड़ के शस्त्र साधारणतया लोहे के बनाए जाते थे, परंतु राजा एवं संपन्न लोगों के लिये स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि के भी प्रयुक्त होते थे । यंत्रों के लिये लिखा है कि वे तेज, खुरदरं, परंतु चिकने मुखवाले, सुदृढ़, उत्तम रूपवाले और सुगमता से पकड़े जाने के योग्य होने चाहिएँ भिन्न भिन्न कार्यों के लिये शब्दों की धार, परिमाण आदि भिन्न भिन्न होते थे : शस्त्र कुंठित न हो जाय়, इस-लिये लकड़ी के शस्त्रकोश (Cases) भी बनाए जाते थे, जिनके ऊपर और अंदर कोमल रेशम या ऊन का कपड़ा लगा रहता था । शस्त्र आठ प्रकार के—छंग, भेद्य, वेध्य (शरीर के किसी भाग में सं पानी निकालना), एथ (नाड़ी आदि में ब्रण का हँड़ना), आर्व (दाँत या पथरी आदि का निकालना). विस्ताव्य (रुधिर

* यद यातं दिवोदासाय वर्त्ति भारद्वाजायश्विनाहयंता ।

ऋग्वेद, म० १-१२-१३

† एंश्यंट सर्जिंकल इंस्ट्रुमेंट्स; जि० १ ।

का विस्तरण करना), सीब्य (दो भागों को सीना) और लैस्य (चेचक के टीके आदि में कुचलना)—हैं । हमारे समय के वाग्मद्व ने तेरह प्रकार के शल्य कर्म माने हैं । सुश्रुत ने यंत्रों (औजार जो चीरने के काम में आते हों) की संख्या १०१ मानी है; परंतु वाग्मद्व ने ११५ मानकर आगे लिख दिया है कि कर्म अनिश्चित हैं, इसलिये यंत्र-संख्या भी अनिश्चित है; वैद्य अपने आवश्यकतानुसार यंत्र बना सकता है । शब्दों की संख्या भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न मानी है । इन यंत्रों और शब्दों का विस्तृत वर्णन भी उन यंत्रों में दिया है । अर्श, भग्दंदर, योनि-रोग, मूत्रदोष, आर्तव दोष, शुक्रदोष आदि रोगों के लिये भिन्न भिन्न यंत्र प्रयुक्त होते थे । ब्रणवस्ति, बम्तियंत्र, पुष्पनेत्र (जिंग में औपथ प्रविष्ट करने के लिये), शलाका-यंत्र, नखाकृति, गर्भशंकु, प्रजननशंकु (जीवित शिशु का गर्भाशय से बाहर करने के लिये), सर्पमुख (सीने के लिये) आदि बहुत से यंत्र हैं । ब्रणों और उदरादि संबंधी रोगों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की पट्टी बाँधने का भी वर्णन किया गया है । गुदभ्रंश के लिये चर्म-बंधन का भी उल्लेख है । मनुष्य या घोड़े के बाल सीने आदि के लिये प्रयोग में आते थे । दूषित रुधिर निकालने के लिये जैंक का भी प्रयोग होता था । जैंक की पहले परीक्षा कर ली जाती थी कि वह विपैला है अथवा नहीं । टीके के समान मूर्छा में शरीर को तीव्रण अस्थ से लेखनकर दवाई को रुधिर में मिला दिया जाता था । गतिवण (Simus) तथा अर्वुदां की चिकित्सा में भी सूचियों का प्रयोग होता था । त्रिकूर्चक शब्द का भी कुप्र आदि में प्रयोग होता था । आजकल लेखन करने समय टीका लगाने के लिये जिम तीन-चार सुइयोंवाले औजार का प्रयोग होता है, वह यही त्रिकूर्चक है । वर्तमान काल का Tooth-elevator पहले दंतशंकु के नाम से प्रचलित था ।

प्राचीन आर्य कृत्रिम दाँतों का बनाना और लगाना तथा कृत्रिम नाक बनाकर सीना भी जानते थे। दाँत उद्धाड़ने के लिये एनीपिद शब्द का वर्णन मिलता है। मोतियाविंद (Cataract) के निकालने के लिये भी शब्द था। कमल-नाल का प्रयोग दूध पिलाने अथवा बमन कराने के लिये होता था, जो आजकल के Stomach Pump का कार्य देता था*।

इसी तरह सर्प-विद्या का भी प्रचार कम नहीं था। सिकंदर का सेनापति नियार्क्स लिखता है कि यूनानी लोग सर्प-विष दूर करना नहीं जानते, परंतु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पड़े, उन सबको भारतीयों ने दुरुस्त कर दिया। दाहकिया और उपवास-चिकित्सा से भी भारतीय पूर्णतया परिचित थे। शोथ रोग में नमक न देने की बात भी भारतीय चिकित्सक हजार वर्ष पूर्व जानते थे।

पशु-चिकित्सा भी कम उन्नत नहीं थी। इस विषय के भी बहुत ग्रंथ मिलते हैं। पालकार्य-कृत 'गजचिकित्सा', 'गजायुर्वेद', 'गजदर्पण' (इसका हेमाद्रि ने उल्लेख किया है), 'गजपरीक्षा', पशु-चिकित्सा वृहस्पति-रचित 'गजलक्षण', 'गोवैद्यशास्त्र', जयदत्त-कृत 'अश्वचिकित्सा', नकुल-लिखित 'शालिहोत्र शास्त्र', 'अश्वतंत्र' (इसका उल्लेख रायमुकुट ने अमरकोप की टोका में किया है), गण-रचित 'अश्वायुर्वेद' (सिञ्चयोगसंग्रहः), 'अश्वलक्षण', 'हयलीलावती' (मञ्जिनाथ ने इसे उद्घृत किया है) आदि के अतिरिक्त भी बहुत से अन्य ग्रंथ मिलते हैं। अधिकांश में ये ग्रंथ हमारे ही समय के हैं।

* जो प्राचीन शल्यचिकित्सा के विषय में विशेष देखना चाहें वे नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग द, अंक १, २ में प्रकाशित 'प्राचीन शल्यतंत्र' लेख देखें।

† वाइज; हिस्ट्री आफ मैडिसिन, पृ० ६।

तेरहवाँ सदी में पशुचिकित्सा-संबंधी एक संस्कृत ग्रंथ का फारसी में अनुवाद किया गया था। इसमें निम्न लिखित ग्यारह अध्याय हैं—

१—घोड़ों की जाति ।

२—उनकी सवारी और उनकी पैदाइश ।

३—अस्तवल का प्रबंध ।

४—घोड़ों के रंग और जातियाँ ।

५—उनके दोष ।

६—उनके अंग-प्रत्यंग ।

७—उनकी बीमारी और चिकित्सा ।

८—उनका दूषित रक्त निकातना ।

९—उनका भोजन ।

१०—उनको हृष्ट पुष्ट बनाने के साधन ।

११—दाँतों से आयु को जानना* ।

पशु-चिकित्सा के साथ साथ पशु-विज्ञान और कृमिशास्त्र भी अत्यंत उन्नत था। भारतीय विट्ठान पशुओं के स्वभाव, प्रकृति आदि से पूर्णतया परिचित थे। पशुओं के पशु-विज्ञान शरीर-विज्ञान को भो वे भली भाँति जानते थे। घोड़े के दाँतों को देखकर उसकी आयु का पता लगाने की प्रथा भारत में पुरानी है। सर्पों की भिन्न भिन्न जातियाँ उन्हें मालूम थीं। भविष्य पुराण से पाया जाता है कि वे वर्षा ऋतु के पूर्व संग करते हैं और अनुमान ६ मास के बाद मर्पिणी २४० अंडे देती है। वहुत से अंडे तो माता-पिता खा जाते हैं और वचे हुए अंडों से दो मास में वचे स्वयं निकल आते हैं। सातवें दिन वे काले हो जाते हैं और १५-२० दिन में उनके दाँत निकल आते हैं। तीन सप्ताहों में उनमें विष उत्पन्न हो जाता है, ६ मास में मौँप

* हरविलास सारांश; हिंदू सुर्वार्थिये रिटी; गुण ८५०-८७।

(१२४)

केंचुलों उतारते हैं। उनकी त्वचा पर २४० संधियाँ होती हैं। डल्सा
ने सुश्रृत की टीका करते हुए लाञ्छायन का उद्धरण देकर लिखा है
कि वह कृमियाँ और सरीसूपीयाँ (रेंगनेवाले जंतुओं) के विषय में
प्रामाणिक विद्वान् हैं। उन्हें कृमियों के भिन्न भिन्न अंगों
पर भी विचार किया है*।

हमारे समय के आसपास का जैन पंडित हंसदेव का लिखा
हुआ 'मृगपञ्चिशाख' भी अपने विषय का बहुत उपयोगी और
प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसमें सिंहों का वर्णन करते हुए उनके ६ भेद—
सिंह, मृगेन्द्र, पंचास्य, हर्यक्ष, केसरी और हरि—वर्ताकर उनकी
विशेषताएँ बताई हैं। सिंह का वर्णन करते हुए लिखा है कि सिंह
के लंबी पूँछ और गर्दन पर घने बाल होते हैं, जो कद के छोटे, सुन-
हरे वर्षवाले और पीछे की ओर कुछ सफंद होते हैं। वदन पर
सर्वत्र कोमल बाल रहते हैं। सिंह वदन के बड़े मजबूत और भागने
में तीर से नेज होते हैं। भूख लगने पर अत्यंत भयंकर और यांवन
काल में विशेष कामुक होते हैं। वे प्रायः गुफाओं में रहते और
प्रसन्न होने पर पूँछ हिलाया करते हैं। इसी तरह अन्य भी शेर के
भेदों का विस्तृत वर्णन करने के बाद शेरनी का वर्णन किया गया है।
उसके गर्भ, गर्भकाल, स्वभाव आदि पर भी उक्त ग्रन्थ में बहुत
प्रकाश ढाला गया है।

शेर के वर्णन के अनंतर ग्रन्थकर्ता हंसदेव ने व्याघ्र, जरख, भालू,
गैंड, हाथी, घोड़े, ऊँट, गव, गाय, बैल, भैंस, बकरी, हरिण, गोदड़,
बंदर, चूहा आदि अनेक पशुओं और गरुड़, हंस, बाज, गिछ,
सारस, कौआ, उल्लू, तोता, कोयल आदि नाना पञ्चियों का विस्तृत
विवरण दिया है, जिसमें उनकी किस्में, वर्ण, युवाकाल, संभोग

* विनयकुमार सरकार; हिंदू एचीवमेट्स इन एक्ज़ेक्यूटिव साइंसेज़;
पृ० ७३-७५।

योग्य अवश्या, गर्भकाल, उनकी प्रकृति, जाति, आयु तथा उनके भोजन, निवास संबंधी विषयों पर विशेष प्रकाश डाला गया है। हाथी का भोजन गन्ना बतलाया है। हाथी की उम्र सब से बड़ी १०० वर्ष बतलाई गई है और चूहे की कम से कम ढंड़ वर्ष* :

भारतीयों ने ही सब से पहले औपधालय और चिकित्सालय बनाने प्रारंभ किए थे। फाहियान (ई स ४००) ने पाटलिपुत्र

के एक औपधालय का वर्णन करते हुए लिखा चिकित्सालय है कि यहाँ सब गरीब और अमहाय रोगी आकर इलाज करते हैं; उन्हें आवश्यकतानुसार औपध दिया जाता है। उनके आराम का पूरा ख्याल रखा जाता है। यूरोप में सब से पहला औपधालय, विंसेट इम्प के कथनानुसार, दसवीं मद्दो में बना था। हुएन्संग ने भी तच्छिला, मतिउर, मथुरा और मुलतान आदि को पुण्यशालाओं के नाम दिए हैं, जिनमें गरीबों और विधवाओं को मुफ्त औपध, भोजन और वस्त्र दिए जाते थे।

वर्तमान युरोपियन चिकित्सा-शास्त्र का आधार भी आयुर्वेद है। लार्ड एंपथिल ने एक भाषण में कहा था कि मुझे यह निश्चय है कि

आयुर्वेद भारत से अरब में और वहाँ से यूरोप में भारतीय आयुर्वेद पा^१ गया^२। अरब का चिकित्सा-शास्त्र संस्कृत ग्रंथों यूरोपीय चिकित्सा पा^३ के अनुवाद पर निर्भर था। ग्वलोफाओं ने कई संस्कृत ग्रंथों का अरवी में अनुवाद कराया। भारतीय चिकित्सक चरक का नाम लैटिन में परिवर्तित होकर अब भी विश्वमान है^४; नोशन्वाँ का समकालीन वर्जाई है (Barzouhyeh)

* यह युहुक अभी प्राप्त हुई है और पांडन ची^१ विजयराघवाचार्य जी पुरातत्त्वज्ञ, तिस्रपति (मद्रास) से मिल सकती है।

[†] नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, पृ० १६-२०।

[‡] हरविलाम साराडा; 'हिंदू सुर्परिचारिणी'; पृ० २५८

[§] वही; पृ० २५६।

भारत में विज्ञान सीखने के लियं आया था* । प्रो० साचू के कथनातुसार अलबेरनी के पास वैद्यक और ज्योतिप विषयक संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद विद्यमान थे । अल्मनस्त्र ने आठवीं मही में भारत के कई वैद्यक ग्रंथों का अरवी में अनुवाद कराया । प्राचीन अरब-लेखक सैरेपियन ने चरक को प्रामाणिक वैद्य मानते हुए उसका वर्णन किया है† । हालँशीद ने कई भारतीय वैद्यों को अपने यहाँ बुलाया था । अरब से ही यूरोप में आयुर्वेद गया, यह निश्चित है । इस तरह भारतीय आयुर्वेद का यूरोप पर बहुत प्रभाव पड़ा ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हमारे समय में आयुर्वेद सब प्रकार से बहुत उन्नत था । नीचे कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ उदृत की जाती हैं । लार्ड एंप्रिल ने एक भाषण में कहा था—हिंदुओं के कानून वनानेवाले मनु संसार के सबसे बड़े स्वच्छता के सुधारकों में से एक थे । सर विलियम हंटर लिखते हैं कि भारतीय ओपविशास्त्र शस्त्र-विज्ञान के सारे चेत्र का वर्णन करता है । इसमें शरीर की वनावट का वर्णन है, भीतरी अवयवों, मांसपंशियों, पुटों, धमनियों और नाड़ियों का भी विवरण है । हिंदुओं के निवंदु में खनिज, जांतव (Organic) एवं वनस्पतिज ओपवियों का बहुत विशद वर्णन मिलता है । उनकी ओपविधि-निर्माण-विद्या के तरीके कामिल और ठेठ के हैं, जिनमें ओपवियों के वर्गीकरण आदि का बहुत सुंदर वर्णन है । स्वच्छता और पश्यापश्य पर भी इसमें विचार किया गया है । प्राचीन भारतीय अंगच्छेद करते थे, रुधिर-स्राव को रोक सकते थे और पथरी निकालते थे । अंत्रवृद्धि (Hernia), भगंदर, नाड़ो-ब्रण एवं अर्श को बे ठीक कर देते थे । वे मूढ़-गर्भ एवं स्त्रियों के रोगों के सूक्ष्म से सूक्ष्म आपरेशन करते

* हिस्ट्री आफ हिंदू कैमिस्ट्री; भूमिका भाग, पृ० ७३ ।

† रैबे; एंप्रिल हिंदू मैडिसिन; पृष्ठ ३८ ।

थे* । डाक्टर सीत लिखते हैं कि विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिये शब्दच्छेद होता था, तथा गर्भ-विमोचन और मूढ़-गर्भ के आप-रेशन भी होते थे । श्रीयुत वेवर भारतीय शल्य-चिकित्सा की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—‘आज भी पाश्चात्य विद्वान् भारतीय शल्य-चिकित्सा से बहुत कुछ सीख सकते हैं, जैसे कि उन्होंने कटी हुई नाक को जोड़ने की विधि भारतीयों से सीखी’† ।

कामशास्त्र

भारत में जहाँ भौतिक और दार्शनिक विज्ञान इनने अधिक उन्नत थे, वहाँ कामशास्त्र का भी वैज्ञानिक दृष्टि से पर्याप्त विकास हो चुका था । चतुर्वर्ग में धर्म अर्थ काम और मोक्ष माने गए हैं । धर्म के संबंध में ऊपर कुछ लिखा जा चुका है । कामशास्त्र पर उपलब्ध ग्रंथों में सबसे प्राचीन वात्स्यायन-प्रणीत ‘कामसूत्र’ है । वात्स्यायन ने इस शास्त्र या इसके किसी अंग के अपने से पूर्व के प्रणेताओं के नाम दिए हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—ग्रीहालकि (उदालक का पुत्र) श्वेतकेतु, वाभ्रव्य (पांचाल), दत्तक, मुवर्णनाभ, घोटकमुव, गोनर्दीय, कुचुमार आदि । इन मध्यके ग्रंथों का सार लेकर वात्स्यायन ने हमारे समय से पूर्व कामसूत्र लिखा । इसमें योग्य, अयोग्य स्त्री का निर्णय, स्त्री पुरुषों के विशेष भेद, रताव-स्थापन तथा रति को उत्पन्न करने और स्थिर रखने के उपाय बताए गए हैं । पुरुष-स्वभाव से अपरिचित कन्याओं को मनुष्य किन किन उपचारों और व्यवहारों से अपने अनुकूल बनावे इसका विशद वर्णन मिलता है । पति के प्रति स्त्रों के कर्तव्यों तथा गृहस्थ के

* हॉर्डियन गेंड्रेडियर हॉर्डिया; पृ० २२० ।

† वेवर; हॉर्डियन लिटरेचर, पृ० ८० ।

(१२८)

योग्य सभों कार्यों का वर्णन एवं उनके रहन सहन और वार्तालाप पर भी प्रकाश डाला गया है ।

कामसूत्र में रज और वीर्य का भी वैज्ञानिक विवेचन किया गया है । संसार की स्थिति का परिचय कराने के लिये पारदारिक, वैशिक और औपरिषट्क प्रकरण लिखे गए हैं । इस वर्णन से यह पता लगता है कि हमारे यहाँ प्राचीन समय में कामशास्त्र कितना विकसित, उन्नत और वैज्ञानिक था ।

इस ग्रंथ के बाद इस विषय पर कई और पुस्तकें लिखी गईं । हमारे समय के पिछले भाग में कोकोक (कोका पंडित) नामक विद्वान् ने 'रतिरहस्य' लिखा । आजकल के हिंदी 'कोकशास्त्र' इसी कोका पंडित के नाम से प्रसिद्ध हैं । इनके अतिरिक्त करनाटक के राजा नरसिंह के समकालीन ज्योतिरीश्वर ने 'पंचमायक' लिखा । वौद्ध पञ्चाश्रो का लिखा द्रुत्रा नागरसर्वस्व' भी इस विषय का अच्छा ग्रंथ है । हमारे समय के बाद भी इस विषय की वहुत सी पुस्तकें लिखी गईं, जिनका उल्लेख हमने नहीं किया ।

संगीत

प्राचीन काल से ही भारतवर्ष ने संगीत शास्त्र में भी बहुत उन्नति की । संगीत में गान, वाद्य और नृत्य का समावेश होता था ।

संगीत साहित्य मामवेद का एक भाग गान है, जो सामग्रान के नाम से प्रसिद्ध है । वैदिक यज्ञों में प्रसंग प्रसंग पर सामग्रान होता था । हमारे निर्दिष्ट समय से पूर्व के वहुत से संगीत के विद्वानों—सदाशिव, शिव, ब्रह्मा, भरत, कश्यप, मतंग, याष्ठिक, दुर्गा, शक्ति, नारद, तुंवर, विशाम्बिल, रंभा, रावण, चेत्र-राज आदि—के नाम 'संगीत-रत्नाकर' में शार्ङ्गदेव ने उद्धृत किए

हैं। वे संगीत के पुराने आचार्य माने गए हैं। अपने समय से पूर्व का यह परिचय देने में हम जान सकेंगे कि हमारे निर्दिष्ट समय तक संगीत का बहुत कुछ विकास हो चुका था।

हमारे निर्दिष्ट काल में भी संगीत पर बहुत से ग्रंथ लिखे गए, जो आज उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु उनका पता संगीताचार्य शार्ङ्गदेव के 'संगीतरब्बाकर' से लगता है। वह उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त हमारे काल के रुद्रट (८५० ई०), नान्यदेव (१०६६ ई०), राजा भोज (११ वाँ शताब्दी), परमर्दी (चंदेल, ११६७ ई०), सोमेश (११७० ई०), जगदेकमल (११३८ ई०), लोक्लट, उद्गट (८०० ई०), शंकुक, अभिनवगुप्त (८८३ ई०) और कीर्तिवर तथा दूसरे संगीताचार्यों का भी उल्लेख करता है। 'संगीतरब्बाकर' देवगिरि के यादव राजा सिंघण के, जिसका राज्याभिषेक ई० स० १२०७ में हुआ था, दरवार के गायनाचार्य शार्ङ्गदेव ने लिखा था अतएव वह हमारे काल की संगीत की स्थिति का वोधक है। उसमें शुद्ध सांत और विकृत वारह स्वर, वाशादि के चार भेद, स्वरों की श्रुति और जाति, ग्राम, मूर्क्खना, प्रस्तार, राग, गायन, गीत के गुण दोष, ताल, नर्तन और इस समय तक प्रचलित वादों के नाम आदि संगीत-संबंधी अनेक ज्ञातव्य एवं उपर्योगी वातों का वर्णन किया गया है, जिनसे हमारे निर्दिष्ट समय के संगीत-ज्ञान की उन्नत अवस्था का पता चलता है।

संगीत कं तीसरे अंश नृत्य का भी वैज्ञानिक पद्धति पर पूर्ण विकास हो चुका था। अष्टाध्यार्थिकार पाणिनि (६०० ई० पूर्व) के

समय में भी शिलालाला और कृशाश्व के नट-सूत्र
नृत्य विद्यमान थे, भरत का नाट्यशास्त्र प्रसिद्ध है।

उसके अतिरिक्त दंतिल, कोहिल आदि के नाट्य-नियमों के ग्रंथ मिलते हैं। नाट्यशास्त्र के आधार पर भास, कालिदास, भवभूति आदि

अनेक कवियों के सैकड़ों नाटकों की रचना हुई। शिवजी का उद्घत नृत्य 'तांडव' और पार्वती आदि का सुकुमार नृत्य 'लास्य' कहलाया।

राजनीति

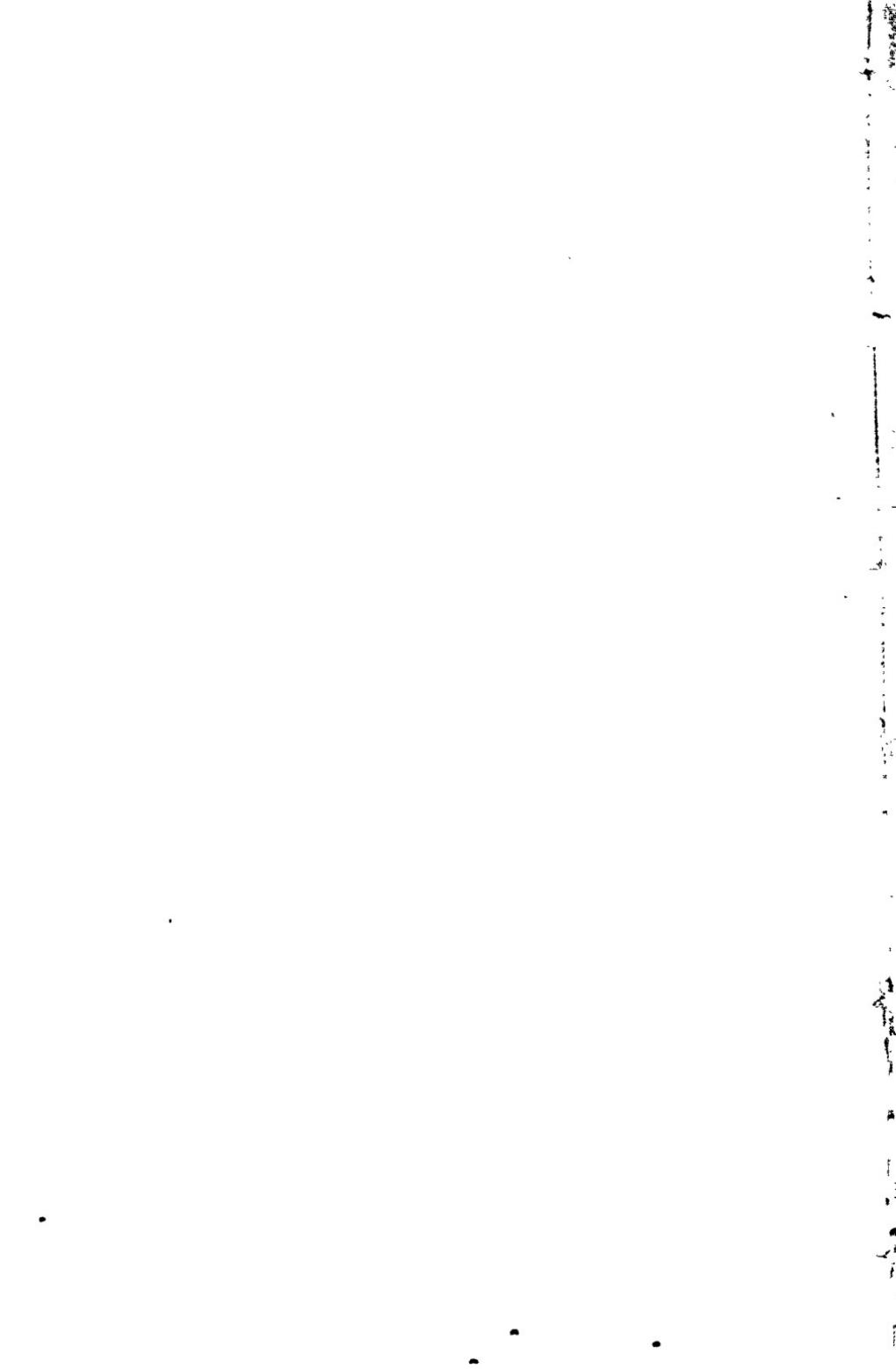
राजनीति शास्त्र पर भी कई प्राचीन ग्रंथ मिलते हैं। इसे नीति-शास्त्र या दंडनीति कहा जाता था। अर्थशास्त्र भी पहले नीति-शास्त्र के लिये प्रयुक्त होता था हमारे यहाँ अर्थशास्त्र का भी बहुत विकास हो चुका था। 'महाभारत' का शांतिपर्व राजनीति का एक उत्कृष्ट प्रामाणिक ग्रंथ कहा जा सकता है। इस विषय पर सबसे अधिक प्राचीन और अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ, जिसे प्रकाशित हुए अभी १५ वर्ष से अधिक नहीं हुए, कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है। इसके प्रकाशित होते ही भारतीय इतिहास में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। हमारे समय से बहुत पूर्व के कारण हम इस पर विचार नहीं करते। हमारे समय के आसपास कामदंक ने 'नीतिसार' नामक छंदोबद्ध ग्रंथ लिखा। कामदंक ने कौटिल्य को गुरु माना है। दसवीं सदी में सोमदेव सूरि ने 'नीतिवाक्यामृत' नामक एक अत्यंत उत्कृष्ट ग्रंथ की रचना की। हेमचंद्र ने 'लघुअर्हन नीतिशास्त्र' नाम से राजनीति पर एक छोटा सा ग्रंथ लिखा। नीति विषयक इन ग्रंथों में राष्ट्र, राष्ट्र की उत्पत्ति के मात्स्यन्याय आदि भिन्न भिन्न सिद्धांत, राज्य के मात अंग—खामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड और भित्र—तथा राजा के कर्तव्य और अधिकार, संधि और युद्ध आदि अनेक झातव्य एवं उपयोगी प्रश्नों पर विचार किया गया है।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त साहित्य के बहुत से ग्रंथों में राजनीति के उत्तम सिद्धांत दिए गए हैं, जिनमें से 'दशकुमार-चरित', 'किरातार्जुनीय', 'मुद्राराज्ञस' आदि मुख्य हैं।



(१७) शिव का तांडव नृत्य
[मद्रास म्यूजियम्]

पृष्ठ १२० •



कानूनी साहित्य

काव्य, दर्शन, कला-कौशल-संबंधी साहित्य के विकास के अतिरिक्त राजनीति और नियम (कानून, धर्म) विषयक साहित्य भी बहुत उन्नत था। राजनीतिक दृष्टि से भारत को पर्याप्त उन्नत देखते हुए कानूनी साहित्य का विकास स्वाभाविक जान पड़ता है। भारत की राजनीतिक उन्नति पर आगे चलकर विचार करेंगे।

धर्म शब्द बहुत व्यापक है। अँगरेजी के 'Religion and law' दोनों इसके अंतर्गत हैं। धर्मशास्त्रों में धार्मिक नियम ही नहीं, किंतु राजनीतिक और सामाजिक नियम भी विस्तारपूर्वक लिखे हुए हैं। हमारे निर्दिष्ट समय से पूर्व आपस्तम्भ और वैधायन के सूत्र लिखे जा चुके थे। इसी तरह गौतम और वशिष्ठ के सूत्र भी बन चुके थे। प्राचीन ग्रंथों में से मनुस्मृति के समान किसी ग्रंथ का सम्मान और प्रचार नहीं हुआ। इस पर कई टीकाएँ भी लिखी गईं। हमारे समय की टीकाओं में मेधातिथि (नवीं शताब्दी) और गोविंदराज (ग्यारहवीं सदी) की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। इस स्मृति का प्रचार भारत में ही नहीं प्रत्युत वर्मा, जावा और बालि द्वीप में भी हुआ था। हमारे समय के आसपास याज्ञवल्क्य स्मृति बनी। इसमें मनु की अपेक्षा अधिक उन्नत पद्धति मिलती है। इसमें तीन विभाग—आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय और प्रायशिच्नाध्याय—हैं। आचाराध्याय में वर्णित धर्म, भद्याभद्य विचार, दान, शुद्धि, ग्रहशांति, राजधर्म आदि वातों पर विचार किया गया है। व्यवहाराध्याय में कानून-संबंधी सभी वातों का विस्तृत विवेचन है। इसमें न्यायालय और उसके नियम, अभियोग, गवाही, सफाई, ऋण का लेन देन, व्याज, चक्रवृद्धि व्याज, तमसुक आदि, दिव्यसाक्षि, उत्तराधिकार-संबंधी प्रश्न, स्त्री के संपत्ति-संबंधी अधिकार, सीमाविवाद-संबंधी निर्णय, स्वामी और संवकें तथा जर्मांदारों और

किसानों के पारस्परिक विवाद, वेतन, वृत्त, कठोर वचन कहने, कठोर दंड देने, चोरी, व्यभिचार तथा अन्य प्रकार के अपराध करने पर दंड और सह कारो संघों के नियम तथा कांगड़ि का अच्छा तरह से विवेचन किया गया है। प्रायशिच्चताध्याय में सामाजिक नियमों पर विचार किया गया है। इस उत्तम ग्रंथ की टीका विज्ञानेश्वर (ग्यारहवीं सदी) ने 'मितान्नरा' नाम से की। मितान्नरा को उसकी टीका कहने की अपन्ना उसके आधार पर एक स्वतंत्र ग्रंथ कहना अधिक अच्छा होगा। विज्ञानेश्वर ने प्रत्येक बात पर बहुत विचार किया है स्थल स्थल पर उसने हारीत, शंख, देवल, विष्णु, बसिष्ठ, यम, व्यास, वृहस्पति, पराशर आदि अनेक स्मृतिकारों के भी प्रमाण उद्धृत किए हैं। इनमें से कुछ स्मृतियाँ हमारे समय में वर्ती। लक्ष्मीधर ने वारहवीं शताब्दी में 'स्मृतिकल्पतरु' नामक एक ग्रंथ लिखा। ये स्मृतियाँ धर्मस्मृतियों का भी काम देती थीं। पिछली स्मृतियों में छूत-छात आदि को प्राधान्य दिया जाने लगा था।

अर्थशास्त्र

वार्ता (Economics) की भी, जिसे आजकल अर्थशास्त्र कहते हैं, पहले कम उन्नति नहीं हुई थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसके लिये वार्ता नाम मिलता है। युरोप के वर्तमान अर्थशास्त्र में उत्पत्ति (Production), विनियम (Exchange), वितरण (Distribution), और व्यय (Consumption) मुख्य विषय हैं। परंतु पहले केवल उत्पत्ति ही मुख्यतः अर्थशास्त्र समझा जाता था। वार्ता में भी उत्पत्ति को मुख्यता दी जाती थी। कृषि, शिल्प, व्यवसाय और पशुपालन प्राचीन वार्ता के मुख्य अंग थे। व्यापार और कुसीद (Money lending) की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी। वार्ता शास्त्र के नाम से हमें कोई

ब्रंथ नहीं मिलता, इससे यह अभिप्राय नहीं है कि इस विषय का कोई ब्रंथ था ही नहीं। आन्वीक्षिकी, त्रयी और दंडनीति के नाम से भी कोई ब्रंथ नहीं मिलते, परंतु इनके विषयों पर भिन्न भिन्न ब्रंथ पाए जाते हैं। इसी तरह धार्ता या अर्धशास्त्र के संबंध में भी उसकी भिन्न भिन्न शाखाओं पर अनेक ब्रंथ उपलब्ध होते हैं। कृषि के संबंध में ‘पादपविवक्षा’, ‘वृक्षदेहद’, ‘वृक्षायुर्वेद’, ‘शस्यानंद’, ‘कृषिपद्धति’ और ‘कृषिसंग्रह’ आदि ब्रंथ मिलते हैं। भवननिर्माण शास्त्र तथा शिल्प पर ‘वास्तुसाख्य’, अपराजित ‘वास्तुशास्त्र’, ग्रासादातुकीर्तन’, ‘चक्रशास्त्र’, ‘चित्रपट’, ‘जन्तर्गति’, ‘पञ्चमनुष्यालयलक्षण’, ‘रथलक्षण’, ‘विमानविद्या’, ‘विमानलक्षण’ (ये दोनों ध्यान देने योग्य हैं), ‘विश्वकर्मीय’, ‘कौतुकलक्षण’, ‘मूर्तिलक्षण’. प्रतिमादव्यादिवचन’, ‘सकलाधिकाम’, सारसर्ताय ‘शिल्पशास्त्र’, ‘विश्वविद्याभरण’, ‘विश्वकर्मप्रकाश’ और ‘समरांगणसूत्रधार’ (इसके विषय में ऊपर लिखा जा चुका है) के अतिरिक्त ‘मयशिल्प’ और ‘विश्वकर्मीय शिल्प’ ब्रंथ मिलते हैं। मयशिल्प में शिल्प के लक्षण, भूमिपरीक्षा, भूमिमापन, दिशानिर्णय, ग्राम और नगर का विस्तार, भवनों के भिन्न भिन्न अंग, दुमंजिले तिमंजिले मकान, द्वार आदि, और विश्वकर्मीय शिल्प में मदिरों, भिन्न भिन्न मूर्तियां तथा उनके आभूपणों आदि पर विचार किया गया है। इन ब्रंथों में से बहुतों के समय अज्ञात या अनिश्चित हैं, परंतु संभवतः इनमें से अनेक हमारे समय के बने हुए होंगे।

रूपरीक्षा पर भी भिन्न भिन्न ब्रंथ मिलते हैं, जिनमें से ‘रत्नादिपरीक्षा’, ‘रत्न-परीक्षा’, मणि-परीक्षा’, ‘ज्ञानरत्नकोप’, ‘रत्नदीपिका’ और ‘रत्नमाला’ आदि ब्रंथ मुख्य हैं। धातु-विज्ञान (Metallurgy) भी कम उन्नत नहीं था। इस विषय पर भी कुछ ब्रंथ मिलते हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—‘लोहरत्नाकर’, ‘लोहार्णव’ और ‘लोहशास्त्र’। भूमि-मापन (Survey) के संबंध में भी एक ब्रंथ ‘ज्ञेत्रगणित-

‘शास्त्र’ मिलता है। नौ-निर्माण (Ship-building) पर भी ‘नौशास्त्र’ आदि ग्रंथ मिलते हैं। व्यापार के संबंध में द्रविड़ भाषा में ‘वैश्यारपेरुमई’ ग्रंथ मिलता है, जिसमें व्यापार-विषयक बहुत सी उपयोगी बातों का विवेचन किया गया है।

प्राकृत

पहले कहा जा चुका है कि संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत भाषा का हमारे निर्दिष्ट समय में बहुत प्रचार था। इसके भी विद्वानों का राज-दरवारों में समुचित सम्मान होता था। अब यहाँ संक्षेप में प्राकृत साहित्य पर विचार करेंगे।

प्राकृत भाषा का साहित्य हमारे निर्दिष्ट समय से पूर्व भी बहुत उन्नति की अवस्था तक पहुँच चुका था। प्राकृत भाषा कई शास्त्रार्थों में

विभक्त है। ये विभाग प्रायः देश-भेद या काल-
प्राकृत साहित्य भेद से हुए थे। महात्मा तुद्र ने अपने उपदेश का विकास लौकिक अर्थात् उस समय की प्रचलित भाषा में दिए थे, जिसको पुरानी प्राकृत कहना चाहिए। यह भाषा बहुधा संस्कृत का कुछ विगड़ा दुश्मा रूप ही थी, जिसे संस्कृत न जाननेवाले लोग बोला करते थे। कई एक विद्वान् उसे पाली भाषा भी कहते हैं और लंका, वर्मा, स्याम आदि देशों के हीनयान बौद्धों के धर्मग्रंथ इसी भाषा में लिखे गए। इसका मत से प्राचीन व्याकरण कञ्चायन (कात्यायन) नामक विद्वान् ने बनाया था। अशोक की धर्मज्ञाएँ भी उस समय की प्रचलित प्राकृत भाषा में लिखी गई थीं। संभव है, उनकी मूल प्रतियाँ उस समय की राजकीय भाषा में लिखी गई हों, परंतु उसके राज्य के मित्र मित्र विभागों में भेजे जाने पर वहाँ के अधिकारियाँ ने अपने अपने प्रदेश के लोगों के ठीक ठीक समझने के लिये शब्दों में

कहीं कहीं परिवर्तन कर उन्हें मिन्न मिन्न स्थानों में, कहीं कहीं पर्वतीय चट्टानों, स्तंभों आदि पर खुदवाया। अशोक के समय तक भी प्राकृत भाषा का संस्कृत के साथ निकट का संवंध था। पीछे से उन भाषाओं के विकास के माथ उनमें परस्पर अंतर बढ़ता गया, जिससे देश-भेद के अनुभार उनके शब्दग अलग नाम मिश्र किए गए, जो ये हैं—मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची, आवंतिक और अपघंश।

मागधी संवंध और उमके आसपास के प्रदेशों की जनता की भाषा थी। प्राचीन मागधी अशोक के लेखों में मिलती है। उमके

मागधी पीछे की मागधी का कोई ग्रन्थ अव तक उप-

लब्ध नहीं हुआ। साधारणतः संस्कृत के नाटकों में छान्ट दर्जे के संबंध, धीवर, सिपाही, विदेशी, जैनमाधु और वज्रों आदि से यह भाषा बुलाई जाती है। ‘अभिज्ञान शाकुंतल’, ‘प्रबोधचंद्रोदय’, ‘वेणीसंहार’ और ‘ललितविप्रहराज’ आदि में प्रसंगवाचात् यह भाषा मिलती है। इस भाषा में भी पीछे से कुछ भेद हो गए, जिनमें मुख्य अर्धमागधी है, जो मागधी और शौरसेनी का मिश्रण होने से ही अर्धमागधी कहलाई। जैनों के आगम नामक धर्म ग्रन्थ इसी अर्धमागधी में मिलते हैं। ‘पउमच-रीय’ नामक पुराना जैनकाव्य इसी भाषा में लिखा गया है। राजा उदयन की कथा भी इसी भाषा में है।

शौरसेनी प्राकृत शूरसेन अथवा मथुरा प्रदेश के आसपास की भाषा थी, और संस्कृत नाटकों में छियां तथा विदृपकों के संभाषण

शौरसेनी में (गद्य) ‘रत्नावली’, ‘अभिज्ञान शाकुंतल’ और ‘मृच्छकटिक’ आदि में उमका प्रयोग

मिलता है। इस भाषा का कोई न्वंत्र नाटक नहीं मिलता। दिगंबरी जैनों का वहुत कुछ साहित्य इस भाषा में मिलता है, जिसमें मुख्य ग्रन्थ ‘पवयनसार’ और ‘कन्तिकेयातुर्पत्त्वा’ आदि हैं।

महाराष्ट्री प्राकृत का नाम महाराष्ट्र देश से पड़ा। इस भाषा का उपयोग विशेष कर प्राकृत काव्यों के लिये होता था। हाल की

महाराष्ट्री 'नतसर्ह' (सप्तशती), प्रवरसेनकृत 'रावणवहो'
(संतुवंध), वाक्पतिराज का 'गौड़वहो' तथा

हेमचंद्र का 'प्राकृतद्वयश्रय' आदि काव्य तथा 'वज्ञालग्न' नामक प्राकृत का सुभाषित ग्रंथ इनी भाषा में लिखे गए हैं। राजशेखर की 'कर्पूर-मंजरी' में, जो विशुद्ध प्राकृत का सटूक है, हरिउद्ध (हरिवृद्ध) और नंदिउद्ध (नंदिवृद्ध), पोतिय आदि प्राकृत लेखकों के नाम मिलते हैं, परंतु उनके ग्रंथों का पता नहीं चला। महाराज भोज-रचित 'कूर्मशतक' तथा दृमरा 'कूर्मशतक', जिसके कर्ता का नाम मालूम नहां हुआ और जो दोनों शिलालिङ्गों पर खुदे हुए धार में भोज की वनवाई हुई 'सरस्वती-कंठभरण' नामक पाठशाला से मिले हैं, महाराष्ट्री में हैं। महाराष्ट्री का एक भेद जैन महाराष्ट्री है, जिसमें श्वेतांबरों की कथा, जीवन-चरित आदि के संदर्भ में ग्रंथ मिलते हैं। जोधपुर राज्य के वटिवाला गाँव से मिला हुआ संडेर के प्रतिहार राजा कक्षकृत का १०० म० ८६१ का शिलालेख भी इसी भाषा में लिखा गया है।

पैशाची भाषा काश्मीर तथा भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर विभाग की लौकिक भाषा थी। इसका प्रसिद्ध ग्रंथ गुणावत्य की 'वृहत्-

कथा' है, जो अब तक उपलब्ध नहीं हुआ।
पैशाची संस्कृत में उसके दो कवितावट संक्षिप्त अनु-वाद काश्मीर में हुए, जो क्षेमेंद्र और सोमदेव-द्वारा किए गए थे।

आवंतिक भाषा अवंती देश अर्थात् मालवा की थी। इसको चूलिका-पैशाची या भूतभाषा भी कहते थे,
आवंतिक जिसका प्रयोग 'मृद्ध-कटिक' आदि में पाया जाता है। राजशेखर एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करता है, जिसमें

भूतभाषा (चूलिका-पैशाची) के अवंती (उज्जैन), पारियात्र (वेतवा और वंवत का निकाम) और दशपुर (मंदसोर) में प्रचार होने का उल्लेख है* । इसकी मन् पूर्व की दृसरी शताब्दा के आसपास पंजाब में रहनेवाली मालव नाम की जाति ने राजपूताना में होते हुए अवंती देश पर अपना राज्य स्थिर किया, जिससे उस देश का नाम मालव प्रसिद्ध हुआ । संभव है, पैशाची भाषा बोलनेवाले मालव लोगों की भाषा का प्रवेश उम देश में हुआ हो और समय के साथ उसमें कुछ परिवर्तन होने के कारण उसका नाम चूलिका-पैशाची रखा गया हो । इसको पैशाची का एक भेद ही कहना चाहिए ।

अपभ्रंश भाषा का प्रचार लाट (गुजरात में), सुराष्ट्र, त्रिवण (मारवाड़ में), दक्षिणी पंजाब राजपूताना, अवंती, मंदसोर आदि

में था । वस्तुतः अपभ्रंश किसी एक देश की अपभ्रंश
भाषा नहीं, किन्तु ऊपर लिखी हुई मार्गधी आदि भिन्न भिन्न प्राकृत भाषाओं के अपभ्रंश या बिगड़े हुए रूप-वाली मिश्रित भाषा का नाम है । उसका प्रायः भारत के दूर दूर के विद्रोह प्रयोग करते थे । राजपूताना, मालवा, काठियावाड़ और कच्छ आदि के चारणों तथा भाटों के डिंगल भाषा के गीत इसी भाषा के पिछले विकृत रूप में हैं । पुरानी हिंदी भी अधिकांश इसी से निकली है । इस भाषा का साहित्य बहुत विस्तृत मिलता है, जो बहुधा कवितावन्ध है । इसमें दोहा छंद प्रधान है । इस भाषा का सबसे बृहत् और प्रसिद्ध ग्रंथ ‘भविसयत्तकहा’ है, जिसे धनपाल ने दसवीं सदी में लिखा । महेश्वरसूरि-कृत ‘संजममंजगी’ पुष्पदंत (पुष्पदंत) विरचित ‘तिसट्टिमहापुरिसगुणालंकार’, नयनेंदी निर्मित ‘आराधना’, योगींद्रदेव-लिखित ‘परमात्मप्रकाश’, हरिभद्र का ‘नेमि-नाहचरित’, वरदत्त-रचित ‘वैरमामिचरित’, ‘अंतरंगसंधि’, ‘सुलसा-

* नागरीप्रचारिणी पत्रिका; भाग २, पृष्ठ १० ।

खायन', 'भवियकुटुंबचरित्र', 'संदेशशतक' और 'भावनासंधि' आदि भी इसी भाषा के ग्रंथ हैं*। इनके अतिरिक्त भिन्न भिन्न ग्रंथों—सोमप्रभ का 'कुमारपालप्रबोध', रत्नमंदिरमणि की 'उपदेशतरंगिणी', लक्ष्मणगारी-कृत 'सुपासनाहचरियम्', 'दाहाकांष', कालिदास का 'विक्रमोर्वशीय' (चतुर्थ अंक), हेमचंद्र-लिखित 'कुमारपालचरित', (प्राकृत द्वारा श्रव्यकाव्य), 'कालकाचार्यकहा' और 'प्रवंधचितामणि' आदि—में स्थल स्थल पर अपन्नश का प्रयोग किया गया है। हेमचंद्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में अपन्नश के जो १७५ उदाहरण दिए हैं, वे भी अपन्नश साहित्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। उनसे मालूम पड़ता है कि अपन्नश स हित्य बहुत विकृत और उन्नत था। उन उदाहरणों में शृंगार, वीरता, रामायण और महाभारत के अंश, हिंदू और जैन धर्म तथा हास्य के नमूने मिलते हैं। इस भाषा के साहित्य में प्रायः जैनियाँ ने यहुत परिश्रम किया।

प्राकृत भाषा वी उन्नति के माध्य उम्मके व्याकरण का भी उद्धत होना आवश्यक था। हमारे नमय से कुछ पूर्व वर्त्ति ने 'प्राकृत-प्रकाश' नामक प्राकृत भाषा का व्याकरण लिखा है। उसमें लेखक ने महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी के नियमों का वर्णन किया है। लंकेश्वर-कृत 'प्राकृतकामधंतु', मार्कंडेय-कृत 'प्राकृतसर्वस्व' और चंडकृत 'प्राकृतलक्षण' आदि भी प्राकृत व्याकरण के उत्तम ग्रंथ हैं। प्रसिद्ध चिद्राव हेमचंद्र ने संस्कृत व्याकरण 'मिठ्ठेमचंद्रानुशासन' लिखने हुए उम्मके अंत में प्राकृत व्याकरण लिखा। उसमें 'सिद्धांत-कौमुदी' की तरह विषय-विभाग से सूत्रों का क्रम है। हेमचंद्र ने पहले महाराष्ट्री के नियम लिखे। आगे शौरसेनी के विशेष

* भविसयत्कहा; भूमिका; वृ० ३६-४६ (गायकवाड़ ओरियनल सीरीज में प्रकाशित संस्करण)।

(१३६)

नियम लिखकर लिखा कि 'शेषं प्राकृतवत्'। फिर मागधी के विशेष नियम लिखकर लिखा—'शेषं शौरसेनीवत्'। इसी तरह पैशाची, चूलिका-पैशाची और अपब्रंश के विशेष नियम लिखे तथा अत में सब प्राकृतों को लद्य में रखकर लिखा कि 'शेषं संस्कृतवत्सद्भम्'। संस्कृत और दूसरी प्राकृतों के व्याकरण में तो उसने अपनी वृत्ति में उदाहरणों की तरह प्रायः वाक्य या पद दिए हैं, किंतु अपब्रंश के अंश में उसने बहुधा पूरी गाथाएँ, पूरे छंद और अवतरण दिए हैं।

प्राकृत भाषा के कई कोष भी लिखे गए धनपाल ने ८७२ ई० में 'पाइयलच्छीनाममाला' लिखा। अवन्तिसुंदरी (राजशेखर की स्त्री) ने प्राकृत कविता में आनेवाले देशी शब्दों प्राकृत-कोष का कोष बनाया था और उसमें प्रत्येक शब्द के प्रयोग के स्वरचित उदाहरण दिए थे। यह कोष अब उपलब्ध नहीं है; हमचंद्र ने अपने कोष में उसका मत भी उद्धृत किया है। हेमचंद्र ने भी प्रांतीय भाषाओं के संग्रह का 'देशीनाममाला' नामक ग्रंथ लिखा। कवितावद्व होने के अतिरिक्त उसके शब्द अकारादि क्रम से रखे गए हैं और उनमें भी पहले दो दो अक्षरों के, फिर तीन तीन के, तदनंतर चार चार अक्षरों के शब्द दिए हैं। यह देशी भाषा के अध्ययन के लिये बहुत उपयोगी कोष है। पाली का भी एक कोष मौगलायन ने 'अभिधानप्पदीपिका' नाम सं १२०० ई० के करीब लिखा, जिसमें अमरकोष की शैली का अनुकरण किया गया है।

दक्षिण भारत की भाषाएँ

उत्तर भारत की भाषाओं के माहित्य का विवेचन करने के बाद दक्षिण भारत की द्रविड़ भाषाओं का वर्णन करना भी आवश्यक है। द्रविड़ भाषाओं के साहित्य में हमें विस्तृत सामग्री नहीं मिलती, इसलिये हम बहुत संक्षेप से इन पर विचार करेंगे।

(१४०)

दक्षिण भारत की द्रविड़ भाषाओं में सबसे मुख्य और प्रथम तामिल भाषा है। यह तामिल प्रदेश में बोली जाती है। इसकी प्राचीनता के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसका सबसे प्राचीन व्याकरण 'तोलकाप्पियम्' है, जिसका कर्ता प्रचलित दंतकथाओं के आधार पर ऋषि अगस्त्य का शिष्य माना जाता है। इसके पूर्व से मालूम होता है कि तामिल साहित्य का भी विस्तृत इतिहास था। इस भाषा का सब से प्राचीन ग्रंथ 'नालदियार' मिलता है। यह पहले बहुत बड़ा ग्रंथ था, अब इसके कुछ अंश ही रह गए हैं। दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ ऋषि तिरुवल्लुकर का 'कुरल' है, जो वहाँ वेद की तरह पवित्र दृष्टि से देखा जाता है। उसमें तीनों वर्गों, धर्म, अर्थ और काम के संबंध में अत्यंत उपयोगी उपदेश हैं। वह तामिल साहित्य का अत्यंत उत्कृष्ट ग्रंथ है। उसका कर्ता जाति का अन्त्यज माना जाता है और संभवतः वह जैन था। किसी अज्ञात कवि कृत 'चिंतामणि', कंवन-कृत 'रामायणम्', 'दिवाकरम्', 'तामिलव्याकरण' आदि भी इसी भाषा के हमारे समय के ग्रंथ हैं। इसमें कई एंतिहासिक काव्य भी लिखे गए, जिनमें से कुछ के नाम नीचे दिए जाते हैं—पोइक्यार-कृत 'कल्वलिनाडपुडु' (सातवीं सदो के आसपास), जयकौडान-लिखित 'कलिङ्गनुपरणी' (ग्यारहवीं शताब्दी), 'विक्रम शोलनुला' (बारहवीं सदो) और 'राजराजनुला' (बारहवीं सदी)*। इस साहित्य को प्रायः जैनियों ने ही बढ़ाया फिर वहाँ शैव धर्म का प्रचार हो गया।

तामिल लिपि के अत्यंत अपूर्ण होने के कारण उसमें संस्कृत भाषा नहीं लिखी जा सकती थी, इसलिये उसके लिखने के लिये नई 'ग्रंथलिपि' का निर्माण किया गया जिसमें सब ग्रंथ लिखे जाने लगे।

* मेरी; भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री; पृ० २५-३०।

(१४१)

मलयालम के साहित्य ने भी तामिल कविता का अनुकरण किया, परंतु इसमें शीघ्र ही संस्कृत शब्दों की वहुलता आ गई। इसका हमारे निर्दिष्ट समय का कोई ग्रंथ ऐसा उपलब्ध नहीं है जो उल्लेख्य हो।

तामिल-साहित्य की भाँति कनड़ी भाषा के साहित्य को भी जैनियों ने अधिक उन्नत किया। इसके साहित्य में काव्य, अलंकार तथा व्याकरण आदि के ग्रंथ मिलते हैं।
कनड़ी

दिनिंग के राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष (प्रथम) ने नवीं शताब्दी में अलंकार विषय पर 'कविराजमार्ग' लिखा। साहित्यिक ग्रंथों के अतिरिक्त जैन, लिंगायत, शैव और वैष्णवों के सांप्रदायिक ग्रंथ भी इस भाषा में मिलते हैं। इनमें सुख्य ग्रंथ लिंगायत संप्रदाय के प्रथम आचार्य वस्त्र का बनाया हुआ 'वस्त्रपुराण' है। सामेश्वर का 'शतक' भी एक अच्छा ग्रंथ है। कवि पंप का 'पंपभारत' या 'विक्रमार्जुनविजय' भी हमारे समय का काव्य है और दुर्गसिंह-कृत 'पंचतंत्र' का अनुवाद भी हमारे समय में हुआ। इस भाषा पर संस्कृत का वहुत प्रभाव पड़ा और इसमें संस्कृत के वहुत से ग्रंथों का अनुवाद हुआ।*

तैलगू आंध्र प्रांत में वोली जाती है। इसके साहित्य पर भी संस्कृत का प्रभाव वहुत पड़ा। इसका प्राचीन साहित्य अधिक

तैलगू उपलब्ध नहीं हो सका। पूर्वी सोलंकी राजा राजराज ने ग्यारहवीं शताब्दी में अन्य विद्वानों की सहायता लेकर ननियमट्ट (नन्नप) से 'महाभारत' का अनुवाद इस भाषा में कराया।†

* इमोरियल गैजेटिंग; जिल्ड २, पृ० ४३४-३७

† एपिग्राफिया इंडिका; जिल्ड २, पृ० ३२।

शिक्षा

संपूर्ण साहित्य के मन्त्रिम वर्णन के बाद तत्कालीन शिक्षा, शिक्षापद्धति और शिक्षणालयों का भी कुछ विवेचन किया जाता है।

हमारे समय के प्रारंभ में शिक्षा का सर्व साधारण में बहुत पचार था। गुप्त राजाओं ने शिक्षा के प्रचार के लिये बहुत प्रयत्न किया। उस समय भारतवर्ष संमार के सब देशों में सब से अधिक शिक्षित था। चीन, जापान और सुदूर पूर्वी देशों से पढ़ने के लिये विद्यार्थी भारत में आया करते थे। बौद्ध आचार्य तथा हिंदू तपस्वी और संन्यासी शिक्षा देने में विशेष भाग लेते थे। उनका प्रत्येक संघाराम या मठ एक एक शिक्षणालय बना हुआ था। प्रत्येक बड़े शहर में कई संघाराम होते थे। हुएन्टसंग लिखता है कि कनौज में ही कई हजार विद्यार्थी संघारामों में पढ़ते थे। मधुरा में २००० विद्यार्थी अध्ययन करते थे।

चीनी यात्रियों के वर्णनों से पता लगता है कि भारत में ५००० मठ या विद्यालय थे, जिनमें २१२१३० विद्यार्थी पढ़ते थे। हुएन्टसंग ने भिन्न भिन्न बौद्ध संप्रदायों के मठों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या भी दी है*। विद्रान ब्राह्मणों के घर और जैन यतियों के उपास्रय भी छोटी छोटी पाठशालाओं का काम देते थे। राजाओं की तरफ से भी विद्यालय स्थापित थे। इस तरह प्रायः जगह जगह संपूर्ण भारत में छोटे बड़े शिक्षणालय विद्यमान थे, जिनसे शिक्षा का प्रचार बहुत होता था।

केवल छोटे छोटे शिक्षणालय ही नहीं, किंतु आजकल के विश्वविद्यालयों की समता करनेवाले बड़े बड़े विश्वविद्यालय भी होते थे।

नालंद विश्वविद्यालय ऐसे विश्वविद्यालयों में नालंद, तत्त्वशिला, विक्रम-शील, धनकटक (दक्षिण में) आदि के नाम मुख्य हैं। हुएन्टसंग ने नालंद विश्वविद्यालय का विस्तृत वर्णन

* राधाकुमार मुकर्जी, हर्ष—पृ० १२४-२७।

(१४३)

किया है, जिसका सारांश हम यहाँ उद्धृत करते हैं, जिससे तत्कालीन शिक्षणालयों के विषय में कुछ ज्ञान हो जाय।

प्रारंभ में नालंद विश्वविद्यालय मगध के राजा शकादित्य ने बनाया था, उसके पीछे के राजाओं ने भी उसे बहुत सहायता दी। नालंद विश्वविद्यालय के अधिकार में २०० से अधिक गाँव थे, जो अनेक राजाओं ने दान दिए थे। इन्हीं गाँवों की आय से उसका व्यय चलता था। यहाँ १०००० विद्यार्थी और १५०० अध्यापक रहते थे। सुदूर विदेशों से भी विद्यार्थी यहाँ पढ़ने के लिये आते थे। चारों ओर ऊँचे ऊँचे विहार और मठ बने हुए थे। बीच बीच में सभागृह और विद्यालय थे। उनके चारों ओर बौद्ध-शिक्षकों और प्रचारकों के निवास के लिये चौभंजिली इमारतें थीं। रंग बिरंगे दरवाजों, कड़ियाँ, छतों और स्वंभों की सुंदरता देखकर लोग सोहित हो जाते थे। वहाँ कई बड़े बड़े पुस्तकालय और छः बड़े बड़े विद्यालय थे। विद्यार्थियों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था, किन्तु उलटे उन्हें प्रत्येक आवश्यक वस्तु - भोजन, वस्त्र, औपथ और निवासस्थान आदि—मुफ्त दी जाती थी। उच्च श्रेणी के विद्यर्थियों को एक अच्छा कमरा और छोटो श्रेणी के विद्यार्थियों को साधारण कमरा दिया जाता था*।

इस विश्वविद्यालय में संपूर्ण बौद्ध-साहित्य के अतिरिक्त वेद, गणित, ज्यातिष, तर्कशास्त्र (हेतुविद्या) व्याकरण, वैद्यक आदि अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। वहाँ प्रह, नक्षत्र आदि देखने का भी बड़ा भारी स्थान था। वहाँ की जलघड़ो मगधवासियों को ममय का परिचय देती थी। उसमें प्रविष्ट होने के लिये एक परीक्षा भी देनी पड़ती थी। यह परीक्षा बहुत कठिन होती थी, जिसमें बहुत से

* शील, नुदिम्प रम्पैस शाफ दी। ब्रेस्टन बन्ड; जिन्द ३ पृष्ठ १६०-६८।

की वात है। इसमें पढ़े हुए विद्यार्थी बहुत प्रामाणिक विद्वान् माने जाते थे ; हर्ष ने अपनी परिपद् के उत्सव में नालंद से १००० विद्वान् दुलाल थे । मुसलमानों के समय में इन महत्वपूर्ण और उपयोगी विश्वविद्यालय का नाश हुआ ।

भारत में तच्चिला का विश्वविद्यालय सब से प्राचीन था । पतंजलि, चाण्डक्य और जीवक यहाँ के विद्यार्थी तथा अध्यापक थे ।

यह विश्वविद्यालय भी बहुत बड़ा था । इसमें तच्चिला विश्वविद्यालय शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु सोतह वर्ष की थी । प्रायः राजाओं तथा संपत्ति पुरुषों के पुत्र इसमें पढ़ते थे । 'महासुतसोमजातक' में एक आचार्य सं पट्टनेवाले १०० से अधिक राजकुमारों का उल्लेख है । गरीब विद्यार्थी दिन में काम करते और रात को पढ़ते थे । कुछ विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय की ओर से भी काम दिया जाता था । कुछ विद्यार्थी पढ़ने के बाद फीम चुकाने की प्रतिज्ञा करते थे । विद्यार्थियों के जीवन और आचार पर विशेष ध्यान दिया जाता था । मिन्न भिन्न जातकों से पता लगता है कि यहाँ अनेक विषय पढ़ाए जाते थे । जिनमें से कुछ ये हैं—वेद, अठारह विद्याएँ (नहीं कहा जा सकता किये कौन सी थीं), व्याकरण, शिल्प, धनुर्विद्या, हस्तिविद्या, मंत्रविद्या और चिकित्साशास्त्र । चिकित्सा शास्त्र पर विशेष ध्यान दिया जाता था । यहाँ की शिक्षा समाप्त कर चुकने पर विद्यार्थी शिल्प, व्यवसाय आदि का क्रियात्मक अनुशीलन तथा देशदेशांतर के रीति रिवाजों का अध्ययन करने के लिये भ्रमण किया करते थे । इसके कई उदाहरण भी जातकों में मिलते हैं । यह विश्वविद्यालय भी मुसलमानों के समय में नष्ट हुआ ।

इसिंग ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में प्राचीन शिक्षाक्रम का संक्षिप्त विवरण दिया है । साधारणतः उत्कृष्ट विद्वान् होने के लिये सबसे

(१४५)

पहले व्याकरण का विशेष अध्ययन करना पड़ता था । इत्सिंग ने व्याकरण के कई ग्रंथों का भी वर्णन किया है । पहले नवीन वालकों को छः वर्ष की आयु में वर्णवोध की सिद्ध शिक्षा का क्रम रचना (सिद्धिरस्तु) पढ़ाई जाती थी । इसमें छः मास लग जाते थे । इसके बाद पाणिनि की अष्टाध्यायी रटाई जाती थी, जिसे विद्यार्थी आठ मास में कंठस्थ कर लेते थे । तदनंतर धातुपाठ, जो अनुमान १००० श्लोकों का है, पढ़ाकर दस वर्ष की अवस्था में नामों और धातुओं के रूप, उणादि सूत्र आदि का अध्ययन कराया जाता था, जो तीन वर्ष में समाप्त हो जाता था । तत्पश्चात् जयादित्य और वामन की 'काशिकावृत्ति' की अच्छी तरह शिक्षा दी जाती थी । इत्सिंग लिखता है कि भारत में अध्ययन करने के लिये आनेवालों को इस व्याकरण ग्रंथ का पहल पहल अध्ययन आवश्यक है; ऐसा न करने पर सारा परिश्रम निष्फल होगा । ये सब ग्रंथ कंठस्थ होने चाहिएँ । इस वृत्ति का अध्ययन कर चुकने के पश्चात् विद्यार्थी गद्य और पद्य की रचना प्रारंभ करते थे और हंतुविद्या तथा अभिधर्म कोष में लग जाते थे । 'न्याय-द्वार-तारक शास्त्र' (नागार्जुन की बनाई हुई हंतुविद्या की भूमिका) के अध्ययन से वे ठीक तौर पर अनुमान कर सकते थे और 'जातकमाला' के अध्ययन से उनकी ग्रहण शक्ति बढ़ती थी । इतना पढ़ चुकने पर विद्यार्थियों को विवाद करने की भी शिक्षा दी जाती थी, परंतु अभी व्याकरण का अध्ययन समाप्त नहीं होता । इसके बाद महाभाष्य पढ़ाया जाता था, प्रौढ़ विद्यार्थी इसे तीन वर्ष में सीख लेता था । इसके अनंतर भर्तृहरि की 'महाभाष्य की टीका' और 'वाक्यप्रदीप' पढ़ाई जाकर उन्हें 'पेइन' (संभवतः संस्कृत की बेड़ावृत्ति) की शिक्षा दी जाती थी । मूल ग्रंथ भर्तृहरि ने ३००० श्लोकों में लिखा, जिसकी टीका धर्मपाल ने १४००० श्लोकों में की

थी। इसके पढ़ लेने पर विद्यार्थी व्याकरण का पारंगत विद्वान् हो जाता था। हुएन्टसंग ने भी शिक्षाक्रम दिया है। व्याकरण का पंडित होने के बाद मंत्रविज्ञान, हेतुविद्या और ज्यानिय का अध्ययन कराया जाता है। इसके बाद वैद्यक की शिक्षा दी जाती है। तन-पश्चान् न्याय पढ़ाया जाता है और सब से अंत में अध्यात्म विद्या। इत्सिंग लिखता है “आचार्य जिन के पश्चान् धर्मकीर्ति ने हेतुविद्या को सुधारा और गुणप्रभ ने ‘विनयपिटक’ के अध्ययन को दुवारा लोक-प्रिय बनाया*”। यह क्रम केवल उत्कट विद्वान् बनने के लिये था। साधारण विद्यार्थी इस क्रम से अध्ययन नहीं करते थे। वे अपना अभीष्ट विषय पढ़कर अपना सांसारिक कार्य करते थे। धर्मों की शिक्षा भी विशेष रूप से दी जाती थी। यह आश्चर्य की बात है कि बौद्ध विश्वविद्यालयों में बौद्ध धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त हिंदू धर्म के साहित्य की भी पूर्ण शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षण-विधि भी बहुत उत्तम थी। हुएन्टसंग लिखता है कि प्रत्यंक विषय के प्रकांड विद्वान् अध्यापक विद्यार्थियों के दिमाग में जबर्दस्ती कोई बात प्रवेश न कर उनके मानसिक विकास की तरफ अधिक ध्यान देते हैं। वे सुस्त विद्यार्थियों को अन्धों तरह पढ़ाते हैं और मंदबुद्धि विद्यार्थियों को तीक्ष्ण बुद्धि कर देते हैं।

विद्वानों में परस्पर शास्त्रार्थ की प्रथा बहुत प्रचलित थी। इससे साधारण जनता को भी बहुत लाभ पहुँचता था। वह बहुत से सिद्धान्तों से परिचित हो जाती थी।

यह शिक्षाक्रम प्रायः हमारे संपूर्ण काल तक प्रचलित रहा थोड़ा बहुत परिवर्तन अवश्य होता रहा, परंतु इसके मूल सिद्धान्तों में

* टाकाकुसु, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेज इन इंडिया; पृ० १२५-८७, चृत्यर्थ और युवनच्चांग स्ट्रैवल्स, जि० १; पृ० १५४-१५।

† चार्टर्स और युवनच्चांग स्ट्रैवल्स; जि० १; पृ० १६०।

(१४७)

कोई परिवर्तन हुआ हो, यह मालूम नहीं होता । बड़े बड़े विश्वविद्यालयों के शिक्षाक्रम का प्रभाव सारे देश पर निश्चित रूप से पड़ता था । यहाँ यह न भूलना चाहिए कि भिन्न भिन्न दार्शनिक और धार्मिक संप्रदायों में यह शिक्षाक्रम उक्त रूप में नहीं था । उनकी पाठशालाओं में साधारण ज्ञान के बाद उन्हीं के धार्मिक या दार्शनिक शंथों का अध्ययन विशेष रूप से कराया जाता था, जैसा कि आजकल काशी आदि में पाया जाता है ।



तृतीय व्याख्यान
शासन, शिल्प और कला



तृतीय व्याख्यान

शासन, शिल्प और कला

प्राचीन भारत में राजनीति और शासन-पद्धति का पूर्ण विकास हो चुका था। हमारे देश में भी राजा के अधिकार किसी प्रकार शासन-पद्धति नियंत्रित थे। यहाँ भी कई प्रजातंत्र राज्य थे, जिनको गणराज्य भी कहते थे। कई राज्यों में राजा चुना भी जाता था। राजा प्रजा पर अत्याचार नहीं कर सकता था। प्रजा की आवाज सुनी जाती थी। शासन-प्रबंध बहुत उत्तम होता था।

हमारे काल में भी हम इस प्रकार का शासन देखते हैं। हर्ष के राज्य-काल के ताम्रलेखों, हर्षचरित और हुएन्तसंग के वर्णन से तात्कालिक शासन-पद्धति का कुछ पता लगता है। राजा उस समय सर्वेसर्वा नहीं था। उसकी मंत्रिपरिषद् होती थी, जिसके हाथ में वस्तुतः राज्य की प्रायः सारी शक्ति रहती थी। राज्यवर्धन का प्रधान सचिव भंडि था। राज्यवर्धन के मारे जाने पर भंडि ने त्रिपरिषद् की बैठक तुलाकर देश की स्थिति समझाई और कहा कि 'राजा का भाई हर्ष कर्तव्यपरायण, प्रजाप्रिय तथा दयालु है। प्रजा उस पर विश्वास करेगी। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि उसे राजा बनाया जाय। प्रत्येक मंत्री इसपर अपनी सम्मति है'। सब मंत्रियों ने

(१५२)

इस पर महमत होकर हर्ष में राजा बनने की प्रार्थना की । इससे जान पड़ता है कि मंत्रि-परिषद् का शासन में बहुत अधिकार था । भिन्न भिन्न मंत्रियों का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें सांघिविग्रहिक, रणभांडागारिक, विनयस्थितिस्थापक (न्याय का प्रबंधकर्ता), अच्छपटलाधिपति (आय व्यय का हिमाब रखनेवाला) आदि मुख्य हैं । राजा का मुख्य कार्य शासन करना था । वह मंत्रि-परिषद् से सलाह लिया करता था । राजा का कर्तव्य प्रजा में शांति रखना और उसकी रक्षा करना था । हुएन्टसंग ने लिखा है कि राजा का शासन दयायुक्त नियमों पर अवलंबित था । प्रजा पर किसी प्रकार की जर्वदस्ती नहीं की जाती थी । ज्ञात्रिय लोग बहुत पीढ़ियों से शासन कर रहे हैं, परंतु उनका उद्देश्य प्रजोपकार और दया है* ।

एकतंत्र शासन होते हुए भी राजा परोपकारी और प्रजाहितैर्पा शासक (Benevolent Monarch) था । उस समय ब्राह्मणों

तथा धर्मगुरुओं का प्रभाव राजा पर बहुत
राजा के कर्तव्य होता था । वह राज्य की सब प्रकार की
क्रियाओं और चेष्टाओं (Activities) का उत्तरदाता था । वह
केवल प्रजा के आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों की ओर ही ध्यान नहीं
देता था, किंतु प्रजा की धार्मिक और शिक्षा-संबंधी अवस्था पर भी
लक्ष्य रखता था । बहुत से राजाओं ने धार्मिक उन्नति में विशेष
भाग लिया, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है । राजाओं ने
शिक्षा की उन्नति के लिये भी विशेष प्रयत्न किया । उनके दरवार में
बड़े बड़े कवियों और विद्वानों को आश्रय दिया जाता था । जब कभी
कोई कवि एक उत्कृष्ट ग्रन्थ तैयार करता, तो राजा दूसरे नरेशों के
दरवारों से भी उसे सुनने के लिये विद्वान् प्रतिनिधि बुलाता था ।
काश्मीर के राजा जयसिंह के समय में मंग्ल-रचित 'श्रीकंठचरित' सुनने

* वाट्स आन युवनच्चांगस ट्रैवल्स; जि० १, पृ० १६८ ।

(१५३)

के लिये कन्नौज के गोविंदचंद्र के दरबार से सुहल और उत्तरी कोंकण के राजा अपरादित्य के दरबार से तेजकंठ आदि विद्रान् भेजे गए थे। प्रायः प्रत्येक दरबार में कुछ कवि तथा विद्वान् रहते थे, जिनका वहाँ पूर्ण सम्मान होता था। राजा लोग उन्हें नए नए प्रथं लिखने के लिये भी उत्साहित करते थे।

शासन की मुविधा के लिये देश भिन्न भिन्न भागों में बैटा हुआ था। मुख्य विभाग भुक्ति (प्रांत), विषय (जिला) और ग्राम-संस्था थे। सबसे मुख्य संस्था ग्राम-संस्था थी। वहुत प्राचीन काल से भारतवर्ष में ग्राम संस्थाओं का प्रचार था। ग्राम के लिये वहाँ की पंचायत ही सब कुछ कार्य करती थी। केंद्रीय सरकार का उसी से संबंध रहता था। ये ग्राम-संस्थाएँ एक छोटा सा प्रजातंत्र थीं इनमें प्रजा का अधिकार था। मुख्य सरकार के अधीन होते हुए भी ये एक प्रकार से स्वतंत्र थीं।

प्राचीन तामिल इतिहास से उस सभ्य की शासन-पद्धति का विस्तृत परिचय मिलता है, परंतु हम स्थानाभाव से संक्षिप्त वर्णन ही देंगे। शासन कार्य में राजा को सहायता देने के लिये पाँच समितियाँ होती थीं। इनके अतिरिक्त जिन्होंने में तीन सभाएँ होती थीं। ब्राह्मण सभा में सब ब्राह्मण गम्भिरित होते थे। व्यापारियों की सभा व्यापारादि का प्रबंध करती थी। चोल राजराज (प्रथम) के शिलालेख से १५० गाँवों में ग्राम-सभाओं के होने का पता लगता है। इन सभाओं के अधिवेशन के लिये बड़े बड़े भवन होते थे, जैसे तंजोर आदि में बने हुए हैं। साधारण गाँवों में बड़े बड़े वट-वृक्षों के नीचे सभाओं के अधिवेशन होते थे। ग्राम-सभाओं के दो रूप—विचार-सभा और शासन-सभा—रहते थे। संपूर्ण सभा के सभ्य कई समितियों में विभक्त कर दिए जाते थे। कृष्ण और उद्यान, सिंचाई, व्यापार, मंदिर, दान आदि के लिये भिन्न भिन्न

समितियाँ थीं। एक समय एक तालाब में पानी अधिक आने के कारण ग्राम को हानि पहुँचने की संभावना होने पर ग्राम-सभा ने तालाब-समिति को उसका सुधार करने के लिये दिना सूद रूपया दिया और कहा कि इसका सूद मंदिर-समिति को दिया जाय यदि कोई किसान कुछ वर्ष तक करने देता था, तो उससे शुल्क छीन ली जाती थी। ऐसी जमीन फिर नीचाम कर दी जाती थी भूमि बेचने या खरीदने पर ग्राम-सभा उसका पूरा विवरण तथा दस्तावेज अपने पास रखती थी। सारा हिसाब-किताब ताडपत्रादि पर लिखा जाता था। सिंचाई की तरफ विशेष ध्यान दिया जाता था। जल का कोई भी स्रोत व्यर्थ नहीं जाने पाता था नहरों, तालाबों और कुओं की मरम्मत समय समय पर होती थी। आय-व्यय कं रजिस्टरों का निरीक्षण करने के लिये राज्य की ओर से अधिकारी नियुक्त किए जाते थे*।

चोल राजा परांतक के समय के शिलालेख से ग्राम-संस्थाओं की निर्माण-पद्धति पर बहुत प्रकाश पड़ता है उसमें ग्राम-सभा के सभ्यों की योग्यता अयोग्यता संबंधी नियम, सभाओं के अधिवेशन के नियम, सभ्यों के सार्वजनिक चुनाव के नियम, उपसमितियों का निर्माण, आय-व्यय के परीक्षकों की नियुक्ति आदि पर विचार किया गया है। चुनाव सार्वजनिक होता था, इसकी विधि यह होती थी कि लोग ठीकारियों पर उम्मीदवार का नाम लिखकर घड़े में डाल-देते थे, सबके सामने वह घड़ा खोलकर उम्मीदवारों के मत गिने जाते थे और अधिक मत से कोई उम्मीदवार चुना जाता था।

* विनयकुमार साकार; दी पोलिटिकल इंस्टिट्यूशन एंड थरीज आफ दी हिंदूज; पृ० ५३-५६।

† आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इंडिया; एन्सुअल रिपोर्ट १९०४-५; पृ० १४२-४५।

इन संख्याओं का भारत को जनता पर जो सबसे अधिक व्यापक प्रभाव पड़ा वह यह है कि वह ऊपर के राजकीय कार्यों से उदासीन रहने लगी। राज्य में चाहे कितने बड़े बड़े परिवर्तन हों जायें, परंतु पंचायतों के बैसे ही रहने से साधारण जनता में कोई परिवर्तन नहीं दीखता था। जन साधारण को परतंत्रता का कठु अनुभव कभी नहीं होता था। इतने विशाल देश के भिन्न भिन्न राज्यों के लिये यह कठिन भी है कि वे गाँवों तक की सब वातों की तरफ ध्यान रख सकें। भारतवर्ष में इतने परिवर्तन हुए, परंतु किसी ने पंचायतों को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया।

शहरों में म्यूनिसिपैलिटियाँ या नगर-सभाएँ भी होती थीं, जो नगर का पूर्ण प्रबंध करती थीं।

शासन और न्याय के नियम पर्याप्त कठोर थे। अंगन्धेद, देशनिर्वासन, जुर्माना और कारागार आदि दंड प्रचलित थे*। हर्ष दंड के जन्म पर कैदियों के छोड़ जाने का उल्लेख बाण ने किया है। याज्ञवल्क्य ने कई कठोर एवं क्रूर दंडों के देने का वर्णन किया है। ब्राह्मणों का विशेष कठोर दंड नहीं दिया जाता था। न्याय-विभाग के लिये एक विशेष अधिकारी रहता था, जिसके नीचे भिन्न भिन्न प्रतिं और स्थानों में अन्य अधिकारी रहते थे। याज्ञवल्क्य ने न्याय के बहुत से नियमों का वर्णन किया है, जिससे पता लगता है कि उस समय की न्यायव्यवस्था कितनी उन्नत और पूर्ण थी। अभियांगों में लिखित और मौखिक साक्षियों की परीक्षा की जाती थी। आश्चर्य की बात यह है कि सब बातों में इननी उन्नति होते हुए भी दिव्यसाक्षाৎ (Ordeals) की क्रूर प्रथा विद्यमान अवश्य थी†, परंतु बहुत ही कम उपयोग में आती थी।

* याटम् आनु युवनच्चांग् दुवस्स; जिल्द १, पृ० १९२।

† वही; पृ० १७१; ब्रह्मवेदोन्न इंडिया; जिल्द २, पृ० १५८-६०।

कानून में खियों की भी राजनीतिक स्थिति स्वीकृत की जाती थी। उत्तराधिकार-संबंधी नियमों में खो की संपत्ति का भी अच्छा विवेचन किया गया है। पुत्र के न होने पर लड़की ही पिता की संपत्ति को अधिकारियों होती थी। अपने पिटू-गृह की ओर से मिलनेवाले धन पर खो का पूर्ण स्वत्व रहता था। मनु ने भी इसका उल्लेख किया है*।

राज्य की ओर से व्यापार और व्यवसाय की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। कारीगरों की रक्षा के लिये विशेष नियम बने हुए थे। यदि कोई व्यापारी अनुचित उपायों द्वारा वस्तुओं का मूल्य आदि बढ़ा देता या बाट और नाप कम या अधिक रखता तो उसे दंड मिलता था।

उस समय के शासन का कुछ परिचय तत्कालीन कर्मचारियों के नामों से मिलता है। राजा या सम्राट् के नीचे बहुत से छोटे छोटे राजा होते थे, जिन्हें महाराजा, महासामंत शासन-प्रबंध

आदि उपाधियाँ मिलती थीं। ये राजा सम्राट् के दरवार में उपस्थित होते थे, जैसा कि वाण के वर्णन से विदित होता है। कभी जागीरदार भी ऊँचे पदों पर पहुँच जाते थे। प्रांत के शासक को 'उपरिक महाराज' कहते थे। कई शिलालेखों में प्रांतीय शासकों के गंपा, भेगिक, भेगपति, राजस्थानीय आदि नाम भी मिलते हैं। प्रांतीय शासक, विषय या जिले के शासक को नियुक्त करता था, जिसे विषयपति या आयुक्त कहते थे। विषयपति अपने जिले के मुख्य स्थान में, जिसे अधिष्ठान कहते थे, अपना अधिकरण या दप्तर रखता था।

प्रांतीय शासकों के पास राजा की लिखित आज्ञाएँ जाती थीं। एक ताम्रपत्र से पता लगता है कि ये आज्ञाएँ तभी ठीक मानी जाती

* विनयकुमार सरकार; दी पोलिटिकल इंस्टिट्यूशंस एंड थूरीज आफ दी हिंदूज; पृ० २७-३०।

थीं, जब कि उन पर सरकारी मुहर हो, प्रांतीय शासक की स्वीकृति हो, राजा का हस्ताक्षर और तत्संबंधी सब क्रियाएँ ठोक हों*। राजा की तरफ से दी गई तमाम सनदों पर राजमुद्रा की छाप होती थी, यहाँ तक कि दानपत्रों के माथ जुड़ा हुई और ताँचे पर ढली हुई बड़ी बड़ी राजमुद्राएँ मिलती हैं, जिनमें कहीं कहीं राजा के पूर्वजों की पूरी नामावली तक रहती थी। मंसी मुद्राओं में कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहार राजा भांजदेव तथा मान्यरा शर्वर्वमा आदि की मुद्राएँ उल्लंखनीय हैं।

स्थानीय सरकारों के भिन्न भिन्न कर्मचारियों के नाम भी शिलालेखों में मिलते हैं, जिनमें से हम कुछ यहाँ देते हैं, जैसे महन्तर (ग्राम-सभा के सभ्य), ग्रामिक (ग्राम का मुख्य शासक), शालिक (कर लेनेवाला कर्मचारी), गौलिक (किलों का अध्यक्ष), श्रुवाधिकरण (भूमि-कर लेनेवाला), भांडागाराधिकृत (कोषाध्यक्ष), तलवाटक (ग्राम का हिसाब रखनेवाला)। कुछ छोटे छोटे कर्मचारियों के नामों का उल्लेख भी मिलता है। वर्तमान क्लर्क के नाम 'दिविर' और 'लेखक' थे। 'करणिक' आजकल के रजिस्ट्रार का काम करता था। इन कर्मचारियों के अतिरिक्त दूसरे भी बड़े बड़े कर्मचारी रहते थे। दंडपाणिक, चैरांद्वरणिक आदि पुनिस के कर्मचारियों के नाम थे।

राज्य की आय कई विभागों से होती थी। सबसे अधिक आय भूमि-कर से थी। भूमि-कर उपज का छठा हिस्सा होता था। किसानों

* मुद्राशुद्रं क्रियाशुद्रं भुक्तिशुद्रं सचिदकम् ।

राज्ञः स्वहस्तशुद्रं च शुद्धिमाप्नोति शासनम् ॥

शिलारावंशी राजा रघुराज का शक संवत् ६३० (वि० सं० १०६५) का दानपत्र। एपिग्राफिया इंडिका; जिल्ड ३, पृ० ३०२।

† चिंतामणि विनायक वैद्य, दिस्ती आफ मिडिग्वरन इंडिया; जि० १, पृ० १२८-४१; राधाकुमार मुकर्जी, हृषी, पृ० ३०३-३२।

पर भी एक आध और कर लगता था । ये कर अनाज के रुप में लिए जाते थे । भंडपिका (चूंगी कर) भी कई पदार्थों पर लगता था ।

बंदरगाहों पर भी आनेवाले माल पर तथा दूसरे
आय-व्यय राज्य से अपनी सीमा में आनेवाले माल पर
आयात कर लगता था । द्यूत-भवनों पर भी बहुत कर लगता था ।
नमक तथा खानों पर भी कर लगाया जाता था*, परंतु ये कर भारी
नहीं थे जैसा कि हुएन्टसेंग का कथन है । उसने राजकीय आय का
चार भागों में व्यय किए जाने का वर्णन किया है । एक भाग सरकार
तथा राष्ट्रीय कार्यों के लिये व्यय किया जाता था, दूसरा भाग
सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिये खर्च होता था, तीसरा भाग
शिक्षा-विभाग के लिये और चौथा भिन्न धार्मिक संप्रदायों को
सहायता देने के लिये रहता था† ।

खेती की उन्नति के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया जाता था । सरकार
की ओर से भूमि को नापा जाता था । कई शिलालेखों में मानदंड,
'निवर्तन', 'पदार्वत' आदि नापों का उल्लेख मिलता है । राज्य की
तरफ से लंबाई का 'मापक' निश्चित था । धारमेश्वरीय हस्त भी
एक परिमाण होता था । ग्रामों की सीमाएँ निश्चित की जाती
थीं । ग्राम पर कर लगता था । ग्रामों के साथ गोचर-भूमि
छोड़ी जाती था । जागीर या इनाम में मिले हुए गाँवों पर कोई
कर नहीं लगता था । राज्य की ओर से तोल के बाटों का भी
निरीक्षण किया जाता था‡ ।

* राधाकुमुद सुखापाध्याय; हर्ष; पृ० ११२-१३ ।

† वाटर आन युवनवांगम ट्रैवलस; जि० १, पृ० १७६-७७ ।

‡ चिंतामणि विनायक वैद्य; हिस्ती आफ मिडिप्पुल इंडिया; जि० १, पृ० १३३, जिल्द २, पृ० २४० ।

(१५६)

राज्य की ओर से सार्वजनिक हित के कार्यों की तरफ भी बहुत ध्यान रहता था। नगरों में धर्मशालाएँ और कुएँ बनाए जाते थे।

सार्वजनिक कार्य
की ओर से स्थापित किए जाते थे। मड़कों पर भी यात्रियों के आराम के लिये वृक्ष, जलाशय आदि के प्रबंध किए जाते थे। राज्य की ओर से शिक्षणालयों को विशेष सहायता दी जाती थी।

इस शासन-प्रबंध के अतिरिक्त भारत की सैनिक व्यवस्था भी कम उन्नत नहीं थी। सैनिक विभाग शासन-प्रबंध से विलकुल प्रथक् था। प्रानीय शासकों का सेना पर कोई अधिकार नहीं था, उसके अधिकारी विलकुल स्वतंत्र रहते थे। प्रायः हर समय युद्ध आदि की संभवता के कारण सेनाएँ काफी बड़ी रहती थीं। हर्ष की सेना में ६०००० हाथी और १००००० घोड़े थे। हुएन्टसंग ने हर्ष की सेना चार प्रकार की—हाथी, घोड़े, रथ और पदाति—वर्ताई है*। घोड़े भिन्न भिन्न देशों से मँगवाए जाते थे। वाण ने कांवाजज, वनायुज, सिंधुज, पारसीक आदि घोड़ों की जातियों के नाम दिए हैं। पीछे से शनैः शनैः रथों का प्रचार कम होता गया।

इन चार प्रकार की सेनाओं के अतिरिक्त जल-सेना भी बहुत सुसंगठित और व्यवस्थित थी। जिन राज्यों की सीमा पर बड़े बड़े दरिया होते थे वे नौ-सेना रखते थे। समुद्री तट के राज्यों को भी नौ-सेना रखने की आवश्यकता थी। हुएन्टसंग ने अपनी यात्रा के प्रसंग में जहाजों का वर्णन किया है। मलाया, जावा, बाली आदि द्वीपों में हिंदुओं के राज्य विश्वमान थे, इससे भी जल-सेनाओं के सुव्यवस्थित होने का निश्चय होता है। चोल राजा बहुत शक्ति-

* वार्टर्स आन युवनच्वार्स ड्रैव्स; जिं १, पृ० १७०-७१।

(१६०)

शाली जल-सेना रखते थे। राजराज ने चेर-राज्य का जंगी बेड़ा नष्ट कर लंका को अपने राज्य में मिला लिया था। गजेन्द्र चोल का जंगी बेड़ा निकोबार और अंडमन द्वीपों (आजकल का काला पानी) तक पहुँचा था। स्ट्रैबो ने भारतीय सेना में जल-सेना के हाने का उल्लेख किया है। जल-सेना की विद्यमानता बहुत प्राचीन काल से थी। मैगस्थनीज ने चंद्रगुप्त की सेना का वर्णन करते हुए जल-सेना का वृत्तांत लिखा है भिन्न-भिन्न सेनाओं के लिये भिन्न-भिन्न अफसर होते थे। संपूर्ण सेना के अधिकारी को 'महासेनापति', 'महावजाध्यक्ष' या 'महाबलाधिकृत' कहते थे। 'भगव्य सेनापति', पैदल और घोड़ों की सेना के अध्यक्ष को कहते थे। घोड़ों की सेना के अध्यक्ष को 'वृहदश्ववार' कहते थे। युद्ध-विभाग के काषायाध्यक्ष को 'रणभांडागाराधिकरण' कहते थे। काश्मीर के इतिहास से एक 'महासाधनिक' का पता लगता है, जो युद्ध के लिये आवश्यक सामग्री की व्यवस्था करता था*।

सेना के सिपाहियों को बेतन नकद दिया जाता था, पर प्रबंध के अन्य कर्मचारियों को अनाज के रूप में दिया जाता था। स्थिर सेना (Standing army) के अतिरिक्त कठिन अवसरों पर अस्थायी सेना की भी व्यवस्था की जाती थी। कई राज्यों में दूसरे राज्यों के लोग भी भरती किए जाते थे†।

उपर्युक्त शामन-व्यवस्था और प्रबंध हमारे सारे निर्दिष्ट काल में राजनीतिक स्थिति एक सा ही नहीं रहा। इसमें बहुत परिवर्तन तथा शामन-पद्धति में हुए। हम संक्षेप में उन परिवर्तनों पर कुछ परिवर्तन विचार करते हैं।

* चिंतामणि विनायक वैद्य; हिस्ट्री आफ मिडिएवल इंडिया; जि० १.
२० १४२-१५।

† राधाकुमुद मुकर्जी; हर्ष; पृ० ६७-६८।

(१६१)

पिछले समय में भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति बहुत अधिक अच्छी नहीं रही। छोटे छोटे राज्य बनते जा रहे थे। हर्ष और पुलकेशी के बाद तो इन दोनों का राज्य कई भागों में विभक्त हो गया। सोलंकी, पाल, सेन, प्रतिहार, यादव, गुहिल, राठोड़ आदि कई वंश अपनी अपनी उन्नति में लगे हुए थे। कहने का अभिप्राय यह है कि संपूर्ण भारत के बहुत से राज्यों में विभक्त होने से उनकी शक्तियाँ विखर गईं। भारत में एक राष्ट्रीयता का भाव प्रवल रूप से नहीं था। इन राज्यों के पारस्परिक युद्धों से देश की शांति नष्ट होती रही। इसका स्वाभाविक परिणाम देश की शासन पद्धति तथा अन्य राजकीय संस्थाओं पर पड़ा। सब राजा शनैः शनैः अधिक स्वतंत्र और उच्छृंखल होते गए। देश के शासन की ओर उनका अधिक ध्यान न रहा। प्रजा की आवाज की सुनवाई कम होने लगी। राजाओं को सेना की विशेष आवश्यकता होने पर उन्होंने प्रजा पर अधिक कर लगाए। राजा स्वयं ही मंत्रियों की नियुक्ति करता था। कोई जनसभा या क्रमागत मंत्रिपरिषद् नहीं थी। इम समय तक राज्य के पुराने अधिकारी ही चले आते थे। भ्यारहवीं और बारहवीं सदी के शिलालेखों में राजामात्य, पुरोहित, महाधर्माधिक, महासाधिविग्रहिक, महासेनापति, महामुद्राधिकृत (राजमुद्रा का रक्तक), महाच-पटलिक और महाभोगिक आदि अधिकारियों के नाम मिलते हैं, जिनसे विदित होता है कि शासन-प्रवंध में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। इन अधिकारियों में 'महा' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि इनके अधीन भी बहुत से कर्मचारी रहते थे*। रानी और युवराज भी शासन में भाग लेते थे। कुछ राज्यों में छोटे छोटे कर बढ़ा दिए गए। पिछले राजाओं के समय में कई कर लगने का

* चिंतामणि विनाशक वैद्य; हिस्ट्री आफ मिडियन इंडिया; जि. ३, पृ० ४५३-४४।

उत्तेष्ठ मिलता है। भूमि और कृषि आदि की भी व्यवस्था पूर्ववन् थी। चेत्रपाल और प्रांतपाल आदि कई अधिकारियों के नाम मिलते हैं। आय-व्यय विभाग भी पहले की तरह ही था। न्यायालयों की भी व्यवस्था अच्छी थी। राजा की अनुपस्थिति में प्राड़-विवाक (न्यायाधीश) काम करता था। अलबेरुनी ने मुकद्दमों के विपय में लिखा है—‘अभियंग उपस्थित करते हुए वादी अपनी पुष्टि में प्रमाण देता था। यदि कोई लिखित प्रमाण न हो तो कम से कम चार गवाह चाहिएँ। उन्हें जिरह की आज्ञा नहीं दी जाती थी। ब्राह्मणों और चत्रियों को हत्या के अपराध में प्राणदंड नहीं दिया जाता था। उनकी संपत्ति लूटकर उन्हें देशनिर्वासित कर दिया जाता था; चौरी के अपराध में ब्राह्मण को अंधा करके उसका बायाँ हाथ और दहिना पैर काट दिया जाता था। चत्रिय अंधा नहीं किया जाता था*’। इससे जान पड़ता है कि उस समय तक भी क्रूर दंड देने की प्रथा विद्यमान थी।

सैनिक व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन हो रहा था। राजाओं के पास अपनी स्थिर सेना रखने का रिवाज कम हो रहा था, परंतु सरदारों और जागीरदारों के पास सेनाएँ रखने और युद्ध के समय पर उनसे सेनाएँ लेने की रीति का प्रचार बढ़ रहा था। भिन्न भिन्न राज्यों की सेवा में दूसरे राज्यों के वीर सिपाही भरती किए जाते थे। पिछले ताम्रपत्र आदि से भी मालूम होता है कि इस समय भी महासेनापति और हाथियों, धोड़ों, ऊटों, जल-सेना के भिन्न भिन्न अफसर, प्रेषणीक, गमागमिक आदि अधिकारी रहते थे†।

भिन्न भिन्न राज्यों के पारस्परिक ट्रेष और शत्रुता के कारण सब राष्ट्र निर्वल हो गए थे। सिंध तो आठवीं सदी में ही मुसलमानों

* अलबेरुनीज इंडिया; जिल २, पृ० १५८-६३।

† चिंतामणि विनायक वैद्य; हिस्ट्री आफ मिडिएवल इंडिया; जिलद ३, पृ० ४७०।

के अधिकार में चला गया था और ग्यारहवीं शताब्दी में लाहौर तक पंजाब उनके हाथ में जा चुका था । वारहवीं सदी के अंत तक दिल्ली, अजमेर, कन्नोज आदि मुख्य मानों के हाथ में चले गए और पीछे से युक्त प्रांत, बंगाल, दक्षिण आदि पर भी क्रमशः उनका अधिकार हो गया और शनैः शनैः अविकांश हिंदू-राज्य नष्ट हो गए ।

आर्थिक स्थिति

हम पहले कह चुके हैं कि भारतवर्ष न केवल आध्यात्मिक उन्नति में पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ था, किंतु भौतिक उन्नति में बहुत कमाल कर चुका था । अब उस समय की भारत की आर्थिक अवस्था पर कुछ विचार किया जाता है ।

भारतवर्ष का मुख्य व्यवसाय कृषि था । उस समय प्रायः सभी प्रकार के अनाज और फल यहाँ होते थे । कृषकों की प्रत्येक प्रकार की सुविधा का पूरा स्वयाल रखता जाता कृषि और सिंचाई था, सिंचाई का बहुत अच्छा प्रबंध था । नहरों, का प्रबंध तालाओं और कुओं द्वारा सिंचाई की जाती थी । नहरों का प्रबंध प्रशंसनीय था । राजतरंगिणी में 'सूय' नामक इंजिनीयर का वर्णन आता है : काश्मीर में बाढ़ आने पर वहाँ के राजा अवंतिवर्मन ने सूय से इसका प्रबंध करने को कहा । उसने वितस्ता (भेलम) के टट पर बहुत पानी देखकर बड़े बड़े बाँध बँधवाकर उससे नहरें निकलवाई । इतना ही नहीं, उसने प्रत्यंक ग्राम की भूमि का इस दृष्टि से वैज्ञानिक निरीक्षण किया कि उसके लिये कितने जल की आवश्यकता है । उसके अनुसार प्रत्यंक ग्राम को यथोचित जल देने की व्यवस्था की गई । कलहण ने लिखा है कि सूय ने नदियों को इस तरह नचाया, जैसे सैंपरा साँपों को नचाता

है। उसकी इस व्यवस्था के परिणाम स्वरूप खंती बहुत हुई और एक खारी (परिमाण विशेष) चावल का दाम २०० दीनारों से ३६ दीनार तक हो गया। तमिल प्रदेश में नदियों को मुहानों के पास रोक-कर पानी इकट्ठा करने की व्यवस्था की जाती थी। हमारे समय से पूर्व करिकाल चेल ने कावेरी नदी पर सौ मील का एक बाँध बनवाया था। राजेंद्र (१०१८-३५ ई०) ने अपनी नई राजधानी के पास बड़ा भारी जलाशय बनवाया। बड़े बड़े तालाब भी हमारे समय से बहुत पूर्व बनाए जाते थे। चंद्रगुप्त मौर्य के समय गिरनार के नीचे एक विशाल सरोवर बनवाया गया था, जिसमें से अशोक ने नहरें निकलवाई^१। इनकी समय समय पर मरम्मत होती रही*। बहुत से राजा तथा नाम से बड़े बड़े विशाल तालाब बनवाते थे, जिनसे सिंचाई बहुत अच्छी तरह हो सकती थी। ऐसे तालाब बहुत से स्थानों पर अब भी मिलते हैं। परमार राजा भोज ने भोजपुर में एक बहुत बड़ा तालाब बनवाया था, जो संसार की कृत्रिम झीलों में सबसे बड़ा था। इसको मुसलमानों ने नष्ट भए कर दिया। अजमेर में आनासागर, वीसला आदि तालाब भी पहले के राजाओं ने बनवाए थे। कुओं से भिन्न भिन्न ढंकार से सिंचाई होती थी, जो आज भी प्रचलित है। इस प्रथा को भारतीय लंका में भी ले गए थे। पराक्रमबाहु (११५० ई०) ने लंका में १४७० तालाब और ५३४ नहरें बनवाई^२ और बहुत से तालाब तथा नहरों की मरम्मत कराई। इससे मालूम होता है कि उस समय सिंचाई की तरफ कितना ध्यान दिया जाता था†।

* विनयकुमार सरकार; दी पोलिटिकल इंस्टिट्यूशंस एंड ड्यूरीज आफ दी हिंदूज; पृ० १०३-४।

† वही; पृ० १०३-४।

(१६५)

कृषि के बाद व्यापार की मुख्यता थी। भारत के बड़े बड़े शहर व्यापार के केंद्र थे। भारतवर्ष में केवल ग्राम ही नहीं थे,

विशाल नगर भी वहुत प्राचीन काल से व्यापारिक नगर मान थे। पांड्य राजाओं की राजधानी मदुरा

वहुत विस्तृत नगर था, जो अपने शानदार और गगनभेदी प्रासादों के कारण प्रसिद्ध था। मलावार के तट पर वंजि (वंचि) व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्व का नगर था। कांरामंडल तट पर पकर (कावेरीपुम्प-हिन्म्) वहुत उत्तम बंदरगाह था। सोलंकियों की राजधानी वातापी (बाजापुर जिले में) अंतरराष्ट्रीय दृष्टि से महत्वशाली थी। बंगाल का बंदरगाह ताम्रलिमि (तमलक) भी व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्व का और विशाल नगर था, जहा से व्यापारी पूर्वीय चीन की तरफ जाते थे। अद्वौज तो विशाल एवं एक प्रसिद्ध नगर था। मालवा की उज्जयिनों नगरी भी कम विशाल नहीं थी। यह उत्तरी भारत और भड़ोच के बंदरगाह के बीच में व्यापारिक दृष्टि से मध्यस्थ का काम करती थी। बंवई प्रांत के भड़ोच (भृगुकच्छ) बंदरगाह से फारस, मिश्र आदि में भारत से माल जाता था। पाटलिपुत्र तो मौर्यकाल से प्रसिद्ध था, जिसका विस्तृत वर्णन मेगास्थनीज ने किया है। उसके कथनानुसार इसके ५७० वुर्ज और ६४ दरवाजे थे और उसका चत्रफल २१° मील था, जो अरेलियन के समय के रोम से दुगुने से भी कुछ अधिक था। इसी तरह और भी अनेक बड़े बड़े शहर भारतीय व्यापार के केंद्र थे*।

व्यापार जल और स्थल मार्ग से होता था। बड़े बड़े जहाजो बेड़े व्यापार के लिये बनाए गए थे। अरब, फिनीशिया, फारस, मिश्र, ग्रीस, राम, चंपा, जावा, सुमात्रा आदि के साथ भारत का

* विनयकुमार सरकार; दी पोलिटिकल इंस्टिट्यूशंस एंड धूरीज आफ दी हिंदूज; पृ० ६०-६५।

व्यापार होता था । समुद्र-यात्रा का निषेध पीछे से हुआ । हर्प ने हुएन्ट्संग को समुद्र-मार्ग से चीन लौटने की सलाह दी थी । जावा की कथाओं से ५००० भारतीयों का कई जहाजों व्यापार के जलमार्ग द्वारा जावा में जाने का वर्णन मिलता है । इसिंग लौटा हुआ समुद्र-मार्ग से ही चीन को गया था । भारतीय पोतकला में बहुत प्रवीण थे और इसे वे बहुत प्राचीन काल से जानते थे । प्रोफेसर मैक्सडंकर के कथनानुसार ई० पूर्व २००० में भी भारतीय इस कला से अभिज्ञ थे* ।

स्थलमार्ग से भी व्यापार बहुत बढ़ा हुआ था । भारतवर्ष में व्यापार के लिये बड़ी बड़ी सड़कें बनाई जाती थीं । इन सड़कों व्यापार के स्थलमार्ग का महत्त्व युद्ध की दृष्टि से भी बहुत था । एक विशाल सड़क कोरोमंडल तट (पूर्वी) से कुमारी अंतरीप तक १२०० मील लंबी थी, जिसे कुलोत्तुंग चोड़देव (ई० स० १०७०-१११८) ने बनवाया था । इसका सैनिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्व था । हमारे समय से बहुत पूर्व मैर्याकाल में भी पाटलिपुत्र से अफगानिस्तान तक ११०० मील लंबी सड़क बन चुकी थी । साधारण सड़कें तो बहुत जगह बनी हुई थीं† । स्थल-मार्ग से केवल स्वदेश में ही नहीं, विदेश में भी व्यापार होता था । राइज डेविड्ज ने लिखा है—“स्वदेश और विदेश में भारतीय व्यापार दोनों मार्गों से होता था । ५०० बैलगाड़ियों के कारवान का वर्णन मिलता है‡” । स्थलमार्ग से चीन, बैबिलन, अरब, फारस आदि के साथ भारत का व्यापार होता था । एसाइलोपीडिया

* हरबिलास सारडा; हिंदू सुपीरियॉरिटी; पृ० ३६४ ।

† विनयकुमार सरकार; दी पोलिटिकल इंस्टिट्यूशंस एंड ध्यूरीज आफ दी हिंदूज; पृ० १०२-३ ।

‡ दी जरनल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी; १९०१ ई० ।

(१६७)

ब्रिटेनिका में लिखा है कि यूरोप के साथ भारत का व्यापार निम्न-लिखित मार्गों से होता था—

१—भारत से पलमायरा नामक शहर द्वारा रोम होता हुआ सीरिया की तरफ ।

२—हिमालय को पार कर आक्सस होते हुए कैस्पियन सागर और वहाँ से मध्य यूरोप* ।

भारतवर्ष से अधिकतर रेशम, छांट, मलमल आदि भिन्न भिन्न प्रकार के वस्त्र और मणि, मोती, हीरे, ममाले, मारपंख, हाथीदाँत आदि बहुत अधिक विदेशों में जाते थे ।

भारतीय व्यापार मिश्र की आधुनिक खाज में वहाँ की मियों की कुछ पुरानी कवरों से वारीक भारतीय मलमल भी मिली है । विदेशी व्यापार के कारण भारतवर्ष बहुत अधिक समृद्ध हो गया । पिनी ने लिखा है कि प्रति वर्ष रामन साम्राज्य से दस लाख पौँड (एक करोड़ रुपए) भारत में आते थे† और केवल रोम से चालीस लाख रुपए भारत में लिचे चले जाते थे‡ ।

देश के आंतरिक व्यापार में भिन्न भिन्न तीयों का भी बहुत महत्व था । इनके मेलों में सब प्रकार के व्यापारी और ग्राहक

मेले आते थे और बड़ी भारी खरीद फरोख्त होती थी । आज भी हरिद्वार, काशी और पुष्कर आदि तीयों में होनेवाले मेले व्यापारिक हाइ से कम महत्व के नहीं हैं ।

आजकल भारतवर्ष केवल कृषिप्रधान देश रह गया है, परंतु पहले यह बात न थी । भारतवर्ष में व्यवसाय और उद्योग-धंधे भी बहुत अच्छी अवस्था में थे । मवसे उत्तम व्यवसाय वस्त्रों का

* एंसाइक्लोपीडिया विट्टेनिका जिं ११, पृ० ४५६ ।

† पिनी; नैचरल हिस्ट्री ।

‡ एंसाइक्लोपीडिया विट्टेनिका; जिं ११, पृ० ४६० ।

(१६८)

था । वस्तु वहुत प्रकार के बनते थे । मामाजिक स्थिति में हम भिन्न भिन्न वस्त्रों के उपयोग के विषय में लिख चुके हैं । भारत में

महीन से महीन मलमल, छींट, शाल दुशाले
व्यवसाय आदि कपड़े बनते थे । कपड़े रंगने की भी कला यहाँ वहुत उन्नत थी । वनस्पतियों से भी तरह तरह के रंग निकाले जाते थे । यह आविष्कार भी पहले पहल भारतीयों ने ही किया था । नील की घंटी तो केवल रंग के लिये ही होती थी । वस्तु-व्यवसाय तो १८ वीं शताब्दी तक चलता रहा और ईस्ट इंडिया कंपनी के समय में नष्ट हुआ

लोहे और फौलाद के व्यवसाय की भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई थी । कच्चे लोहे को गलाकर फौलाद बनाना उन्हें प्राचीन काल से ज्ञात था । खेती आदि के सब प्रकार लोहा आदि धातुओं के लोहे के औजारों और युद्ध के हथियारों का व्यवसाय बनना भारत में प्राचीन काल से चला आता था । लोहे का यह व्यवसाय इतना अधिक था कि भारत की आवश्यकताओं से बचकर फिनिशिया में जाया करता था । डाक्टर राय ने लिखा है—‘दमिश्क के तेज धारवाले औजारों की बड़ी प्रशंसा की जाती है, परंतु यह कला फारस ने भारत से सीखी थी और वहाँ में अरबवालों ने इसका ज्ञान प्राप्त किया*’ ।

भारत के लोह-व्यवसाय के उत्कर्ष को दिखाने के लिये कुतुब-मीनार के पासवाला लोहस्तम्भ ही पर्याप्त उदाहरण है । इतना विशाल स्तंभ आज भी यूरोप और अमेरिका का कोई बड़े से बड़ा कारखाना गढ़कर नहीं बना सकता । आज उसे ने हुए अनुमान १५०० वर्ष हो गए, खुली हवा तथा वर्षा में रहने पर भी उस पर जंग का नाम नहीं और उसकी कारीगरी भी प्रशंसनीय है ।

* हरबिलास भारडा; हिंदू सुपरियोरिटी; पृ० ३२५ ।

धार का जयस्तंभ भी दर्शनीय वस्तु है। यह मुसलमानों के समय में तोड़ा गया था। इसका एक खंड २२ फुट और दूसरा १३ फुट का है। इसका एक छोटा सा तीसरा खंड भी माँझ से मिला है। राजा लोग जयस्तंभ बनवाया करते थे; लोहे के व्यवसाय पर लिखते हुए मिसेज मैनिंग ने लिखा है कि आज भी ग्लासगो और शैफोल्ड में कच्छ से अधिक अच्छा फौलाद नहीं बनता*। लोहे के अतिरिक्त अन्य धातुओं का काम भी बहुत अच्छा था। सोने चाँदी के तरह तरह के पात्र और जेवर बनते थे। पात्रों के लिये अधिकतर ताँवा प्रयुक्त होता था भाँति भाँति के रक्क काटकर सोने में मढ़े जाते थे। कुछ सुवर्णपत्रों पर ऐसी बैद्ध जातके अंकित हुई हैं, जिनमें कई पत्र आदि पन्ने, माणिक वर्गैरह रक्कों के बने हुए हैं, और पच्च कारी के ढंग से लगे हुए हैं। रक्कों तथा कीमती स्फटिकों की बनी हुई मूर्तियाँ भी देखने में आईं और ऐसी एक स्फटिक मूर्ति तो अनुमान एक फुट ऊँची पाई गई है। पिपरावा के स्तूप में से स्फटिक का बना हुआ छोटे मुँहबाला वर्तुलाकार सुंदर बर्तन मिला है जिसके ढक्कन पर स्फटिक की सुंदर मछली बनी हुई है। सुवर्ण की बनी हुई कई मूर्तियाँ अब तक विद्यमान हैं। पीतल या सर्वधातु की तरह तरह की विशाल मूर्तियाँ अब तक कई मंदिरों में स्थापित हैं। इससे यह भी अनुमान होता है कि भारत में खानों से धातु निकालने तथा उन्हें साफ करने की विधि प्रचलित थी।

धातुओं के अतिरिक्त काच का भी काम बहुत उत्तम होता था। पिनी ने भारतीय काच को सबसे उत्तम बताया है। खिड़कियाँ काच आदि का व्यवसाय तथा दरवाजों में भी काच लगते थे और दर्पण काच आदि का व्यवसाय भी बनाए जाते थे। हाथीदाँत और शंख के भी चूड़ियाँ आदि उत्तम पदार्थ बनते थे, उन पर तरह तरह की कारी-

* एंश्यंड एंड मी.डिप्लॉड इंडिया, जिं २, पृ० ३६५।

गरी का काम होता था। इन कामों के औजार बहुत सूक्ष्म होते थे। स्टेवरिनस (Stavorinus) ने लिखा है कि भारतीय शिल्पी इन्हें छोटे और सूक्ष्म औजारों से काम करते हैं कि यूरोपियन उनकी सफाई और चतुरता पर आश्चर्यान्वित हो जाते हैं*।

उद्योग-धर्घे के काम बड़े बड़े पूँजीपतियाँ द्वारा नहीं होते थे। उस समय गणसंस्था (Guilds) का प्रचार था। एक पेशेवाले

गणसंस्था अपना सुव्यवस्थित समुदाय बनाते थे ; गण के प्रत्येक सभ्य को उसके सब नियम मानने पड़ते थे । गण, पर्दार्थ की उत्पत्ति और विक्रय का प्रबंध करता था । गाँवों या जिलों की सभाओं में इनके भी प्रतिनिधि रहते थे, जो देश के व्यवसाय का ध्यान रखते थे । राज्य भी इनके संघ की सत्ता मानता था । केवल व्यवसायी ही गण या श्रेणी नहीं बनाते थे, किंतु कृपकों और व्यापारियों के भी गण बने हुए थे । गैतम, मनु और बृहस्पति (६५० ई०) की स्मृतियों में कृपकों के संघों का उल्लेख है । गड़ेरियों के संघों का परिचय शिलालेखों से मिलता है । राजेंद्र चौल (११ वीं शताब्दा) के समय दक्षिण भारत के एक गाँव के गड़ेरियों के गण को ८० भेड़ें इस प्रयोजन से दी गई थीं कि वह एक मंदिर के दीपक के लिये राज धो दिया करे । एक शिलालेख से पाया जाता है कि विक्रम चौल के समय ५०० व्यापारियों का एक गण था । यह गण-पद्धति बहुत पहले से प्रचलित थी । बैद्ध साहित्य में बहुत बड़े गणों का वर्णन है । गुप्त काल में व्यवसायियों के बहुत से गण विद्यमान थे । ४६५ ई० में तेलियों के एक गण को मंदिर का दिया जलाने का काम सौंपा गया था । इसी तरह कौलिक, गांधिक, धान्यक आदि लोगों के भी गण विद्यमान थे । ये गण बैंक का भी काम करते थे । प्रायः

* स्ट्रैवरिनस की यात्रा; पृ० ४१२।

(१७१)

भारतवर्ष का संपूर्ण व्यापार और व्यवसाय इन्हों गणों के द्वारा होता था* ।

यहाँ कुछ शब्द सिक्कों के विषय में भी कह देना अनुचित न होगा । पहले भारत में द्रव्य-विनिमय (Barter) द्वारा ही व्यापार

सिक्के होता था । दुकानदार भी द्रव्य-विनिमय करके खरीद फरोहर करते थे । राज्य की ओर से बहुत से कर्मचारियाँ को वेतन भी अनाजरूप में मिलता था । सरकार भी अनाज के रूप में भूमिकर लंती थी । इस व्यवस्था के कारण भारत में सिक्के घोड़ी मात्रा में बनते थे । सिक्कों की अधिक आवश्यकता भी न थी । प्रत्येक राजा अपने अपने नाम के सिक्के बनवाता था । सिक्के वहुधा सोने, चाँदी और ताँबे के बनते थे ।

भारत में बहुत प्राचीन काल से सिक्के बनते थे, परंतु उन पर कोई लेख या राजा का नाम नहीं लिखा जाता था, उनका केवल तोल ही निश्चित रहता था । उन पर मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चंद्र, धनुष, वाण, स्तूप, वौधिदुम, स्वस्तिक, वज्र, नदी, पर्वत आदि के चित्र तथा अन्य प्रकार के अनेक चिह्न अंकित होते थे । ऐसे सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे के होते थे । यह निश्चित नहीं कि ये सिक्के राज्य की ओर से बनते थे अथवा व्यापारी या गण बनाते थे ।

सब से प्राचीन लेखवाले सिक्के ईसवी सन् पूर्व की तीसरी शताब्दी के मिलते हैं, जो मालव-जाति के हैं । इनके पीछे ग्रीक, शक, कुशन और चत्रपेंग के सिक्के मिलते हैं । ये सिक्के अधिक उत्तम और लेखवाले हैं । इनके सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे के होते थे । फिर गुप्तकाल में राजाओं ने सिक्कों की तरफ विशेष ध्यान दिया । यही कारण है कि उनके बहुत से सिक्के उपलब्ध होते हैं ।

* दी पेलिटिकल इंस्टिट्यूशंग एंड यूरीज आफ दी हिंदूज पृ० ४०-५०

सोने के सिक्के गोल और लेखवाले मिलते हैं और उनमें से कई एक पर कविताबद्ध लेख भी विद्यमान हैं। चाँदी के सिक्कों में गुप्तों ने भी असावधानी कर ज्ञत्रपें की नकल की। एक तरफ ज्ञत्रपें जैसा सिर और दूसरी तरफ उनका लेख रहता था। गुप्तों के पीछे छठी शताब्दी में हूणों ने ईरान का खजाना लूटा और वे वहाँ के समानियन राजाओं के चाँदी के सिक्के हिंदुस्तान में ले आए। वे ही सिक्के राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, मालवा आदि प्रदेशों में चलने लग गए और पीछे से उन्हों की भड़ी नकलें यहाँ भी बनने लग गईं, जिनकी कारीगरी और आकार में न्यूनता आते आते अंत में उन पर के राजा के चेहरे की आकृति ऐसी बन गई कि लोग उसको गधे का सुर मानने लग गए, जिससे वे सिक्के गधिया नाम से प्रसिद्ध हुए। सातवीं शताब्दी के आसपास से हमारे राजाओं का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ, जिससे राजा हर्ष, गुहिलवंशी, प्रतिहारवंशी, तैवरवंशी, गाहड़वालों, नागवंशी (नरवर के), राष्ट्रकूटों (दक्षिण के), सोलिकियां, यादवों, यौधेय, चौहान (अजमेर और साँभर के), उद्भांडपुर (ओहिंद) आदि के हिंदू राजाओं के नामवाले सोने, चाँदी या ताँबे के कितने एक सिक्के मिले हैं, परंतु प्रत्येक राजा के नहीं। इससे सिक्कों के विषय में राजाओं की असावधानी और उपेक्षा प्रतीत होती है। इसी से सोने आदि में मिलावट करनेवालों को तो दंड देने का उल्लेख स्मृतियाँ में मिलता है, परंतु राजा की आज्ञा के बिना सिक्का बनानेवालों को दंड देने का उल्लेख नहीं मिलता। कभी किसी राजा की प्रिय रानी भी अपने नाम का सिक्का प्रचलित कर देती थी, जैसा अजमेर के चौहान राजा अजयदेव की रानी सोमलदेवी (सोमलेखा) के सिक्कों से पाया जाता है। प्रारंभ में मुसलमानों ने अजमेर का राज्य छीनकर वहाँ के प्रचलित हिंदू सिक्कों की नकल की, परंतु पीछे से उन्होंने अपने स्वतंत्र सिक्के बनाना शुरू किया।

भारतवर्ष कृषि, व्यापार, व्यवसाय और अमूल्य खानों के कारण बहुत समृद्ध था । उस समय खाने पीने की चिता अधिक नहीं थी ।

भारत की आर्थिक स्थिति नागरिक जीवन से भी, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं, मालूम होता है कि प्राचीन भारतीय संपत्ति और समृद्ध थे ; व्यापार में निर्यात के बहुत अधिक होने के कारण भारत की संपत्ति दिन दिन बढ़ती जाती थी ; भारतवर्ष में हीरे, नीलम, मोती और पत्तों की भी कमी नहीं थी । प्रसिद्ध कोहनूर हीरा भी भारत में उस समय विद्यमान था । पिनी ने भारतवर्ष को हीरे, मोती आदि कीमती पत्थरों की जननी और मणियों का उत्पादक कहा है । वस्तुतः भारतवर्ष हीरे, लाल, मोती, मूँगे और भाँति भाँति के अन्य रत्नों के लिये प्रसिद्ध था । सोना भी यहाँ बहुत मात्र में था । लोहा, ताँबा और सीसा भी बहुतायत से निकलता था । अधिकांश चाँदी बाहर से आती थी, इसलिये महँगी रहती थी । प्रारंभ में सोने का मूल्य चाँदी से अठगुना था, जो हमारे निर्दिष्ट काल के अंत में बढ़ता हुआ सोलह गुना तक पहुँच गया ।

यह समृद्धि हमारे समय के अंतिम काल तक विद्यमान थी । सोमनाथ के मंदिर में सोने और चाँदी की अनेक रक्जटित मूर्तियाँ थीं । पास ही २०० मन सोने का साँकल था, जिसके साथ धंटे बँधे होते थे । महमूद गजनवी उसी मंदिर से एक करोड़ रुपयों से अधिक मूल्य की संपत्ति लूट में ले गया था । इसी तरह वह मथुरा और कन्नौज प्रभृति स्थानों से भी अनंत धन-राशि ले गया । यदि भारत की तत्कालीन संपत्ति की जानकारी करनी हो तो उत्तर और दक्षिण भारत के उस समय के बने हुए सैकड़ों भव्य मंदिरों को देखना चाहिए, जिनके कलश, मूर्तियाँ या स्तंभ सोने चाँदी अथवा रत्नों से जटित थे ।

शिल्प

तच्छण-कला-संबंधी शिल्प के मुख्य चार विभाग किए जा सकते हैं—गुफा, मंदिर, स्तंभ और प्रतिमा। हमारे यहाँ तच्छणकला का

विकास विशेषतः धार्मिक भावों से हुआ है।

स्तूप

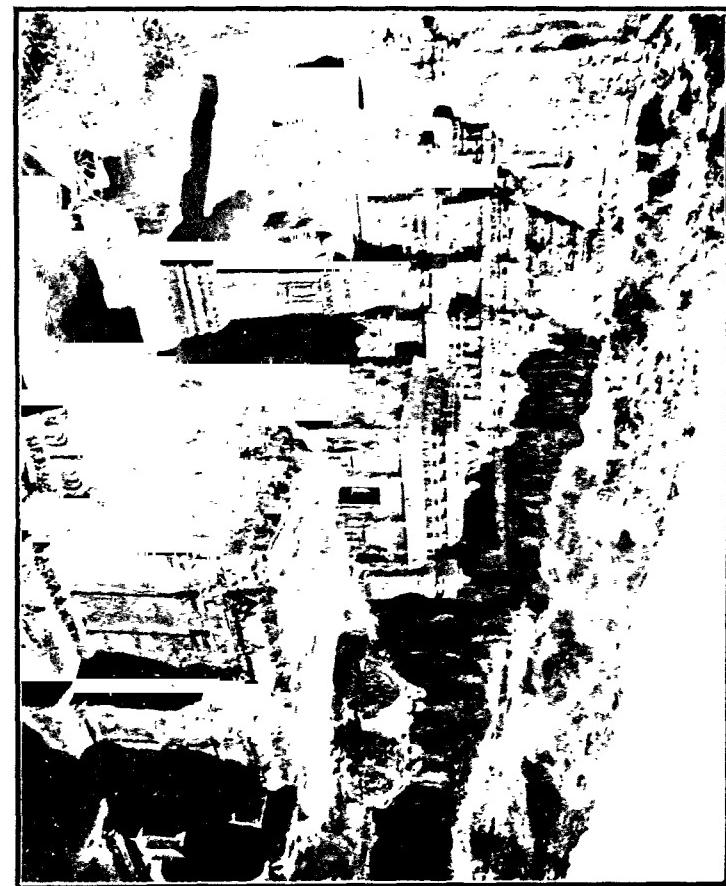
बौद्धस्तूप, चैत्य और विहार आदि शिल्प के सब से प्राचीन सुरक्षित कार्य हैं। महात्मा बुद्ध का निर्वाण होने पर उनका शरीर जलाया गया और उनकी हड्डियाँ आदि पर भिन्न भिन्न जाति के लोगों ने स्तूप बनवाना शुरू किया, जो बैद्धों में बहुत ही पूजनीय समझे जाने लगे; पीछे से बड़े सुंदर कामवाले कई स्तूप बने। स्तूप एक मंदिर की तरह पूजनीय समझा जाता था और उसके चारों तरफ सुंदर कारीगरीवाले विशाल द्वार, तोरण आदि बनाए जाते थे और ऐसे ही कामवाली वेष्टनी (Railings) से वे चारों तरफ से अलंकृत किए जाते थे। ऐसे स्तूपों में साँची और भरहुत के स्तूप मुख्य हैं, जो ३० सन् के पूर्व की तीसरी और दूसरी शताब्दी के आसपास के हैं। अब तक इन पर बौद्धधर्म के पूजनीय चिह्न—धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, हाथी आदि—तथा बुद्ध के पूर्वजन्म की भिन्न भिन्न कथाएँ बड़ी सुंदरता के साथ पत्थरों पर उभरी हुई अंकित हैं।

हमारे यहाँ पहाड़ों को काट काटकर बनाई हुई दो प्रकार की भव्य गुफाएँ—चैत्य और विहार—हैं। चैत्य के भीतर एक स्तूप

गुफाएँ

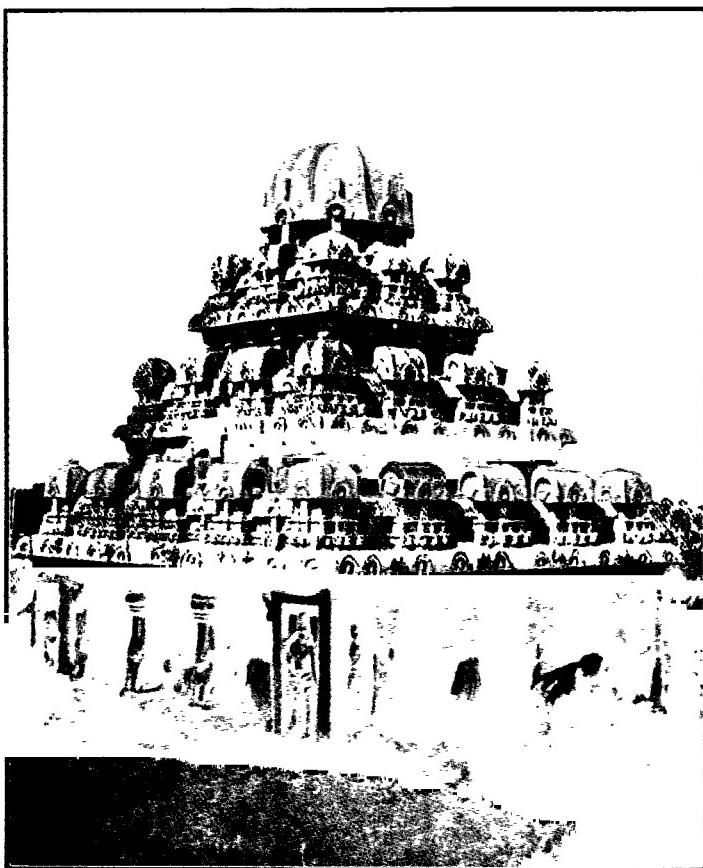
होता है और जन-समाज के एकत्र होने के लिये विशाल भवन (Assembly Hall) होता है।

ऐसी गुफाओं में कार्ली आदि कई गुफाओं का उल्लेख किया जा सकता है। विहार अर्थात् मठ में साधु-मिशुकों के रहने के लिये अलग अलग कमरे बने हुए होते हैं। ऐसी गुफाएँ विशेषतः दक्षिण में मिलती हैं, जिनमें से अंजटा, इलोरा, कार्ली, भाजा, बेड़सा आदि मुख्य हैं। दक्षिण के अतिरिक्त काठियावाड़ में जूनागढ़ के



(५८) होला का पर्वतीय केन्द्रास मंदिर





(१६) द्रविड़ शैली के मंदिर का धर्मराज पथ
[मामल्लपुरम्]

पृष्ठ १७५

पास, राजपूताने में भालावाड़ राज्य में, कोलवी, और भारत में धमणार, बाघ आदि में ऐसे स्थान हैं। कार्ली आदि कितनी एक भव्य गुफाओं की कटाई की सुंदरता देखकर दर्शक मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। ऐसी गुफाओं में से अधिकतर बैद्ध हैं, और थोड़ी सी जैन या वैदिक मत से संबंध रखती हैं। इनमें से अधिकांश गुफाएँ हमारे समय से पूर्व की हैं, परंतु अजंटा की कुछ गुफाएँ, तथा कोलवी, धमणार एवं बाघ आदि की हमारे समय के प्रारंभकाल की हैं। इनमें से कई एक गुफाएँ भारतीय तक्षण-कला के सर्वोत्तम नमूने हैं और उनकी प्रशंसा अनेक विद्वानों ने मुक्तकंठ से की है।

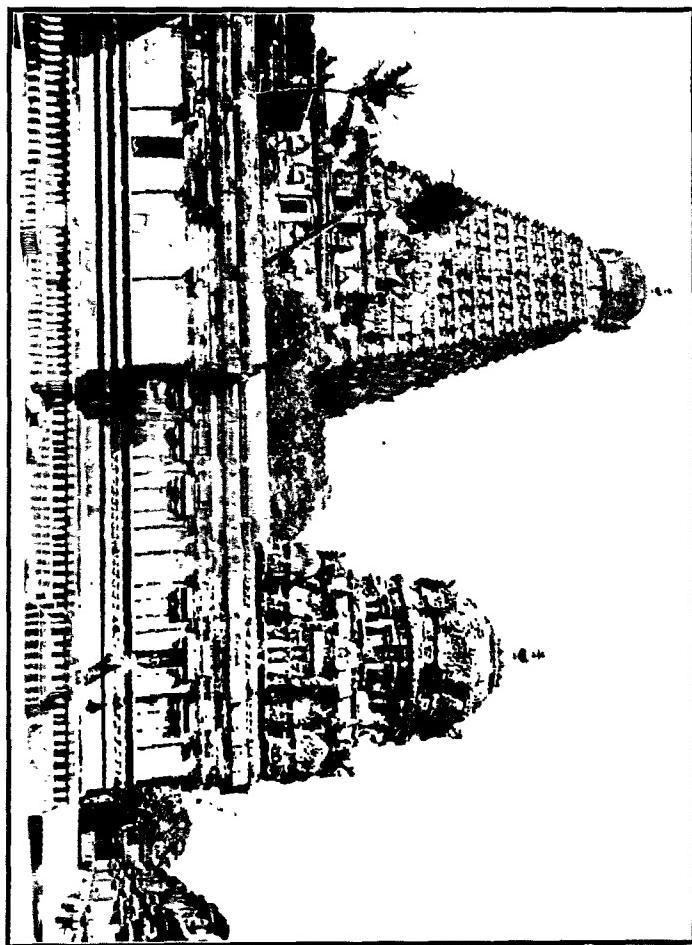
ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के आसपास से बारहवीं शताब्दी तक सैकड़ों जैनों और वेदवर्मावलंबियों अर्थात् ब्राह्मणों के

मंदिर अब तक किसी न किसी दशा में विद्य-
मंदिर मान हैं। देश-भेद के अनुसार इन मंदिरों की शैली में भी अंतर है। कृष्णा नदी के उत्तर से लेकर सारे उत्तरीय भारत के मंदिर आर्य-शैली के हैं और उक्त नदी से दक्षिण के द्रविड़ शैली के। जैनों और ब्राह्मणों के मंदिरों की रचना में बहुत कुछ साम्य है। अंतर इतना ही है कि जैन मंदिरों के स्तंभों, क्षत्रों आदि में बहुधा जैनों से संबंध रखनेवाली मूर्तियाँ तथा कथाएँ सुनी हुई पाई जाती हैं और ब्राह्मणों के मंदिरों में उनके धर्म संबंधी। बहुधा जैनों के मुख्य मंदिर के चारों ओर छोटी छोटी देव-कुलिकाएँ बनी रहती हैं, जिनमें भिन्न भिन्न तीर्थकरों की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। ब्राह्मणों के मुख्य मंदिर के साथ कहीं कहीं कोनों में चार और छोटे मंदिर होते हैं। ऐसे मंदिरों को पंचायतन मंदिर कहते हैं। ब्राह्मणों के मंदिरों में विशेषकर गर्भगृह (निज मंदिर) रहता है, जहाँ मूर्ति स्थापित होती है और उसके आगे मंडप। जैन मंदिरों में कहीं कहीं दो मंडप और एक विस्तृत

(१७६)

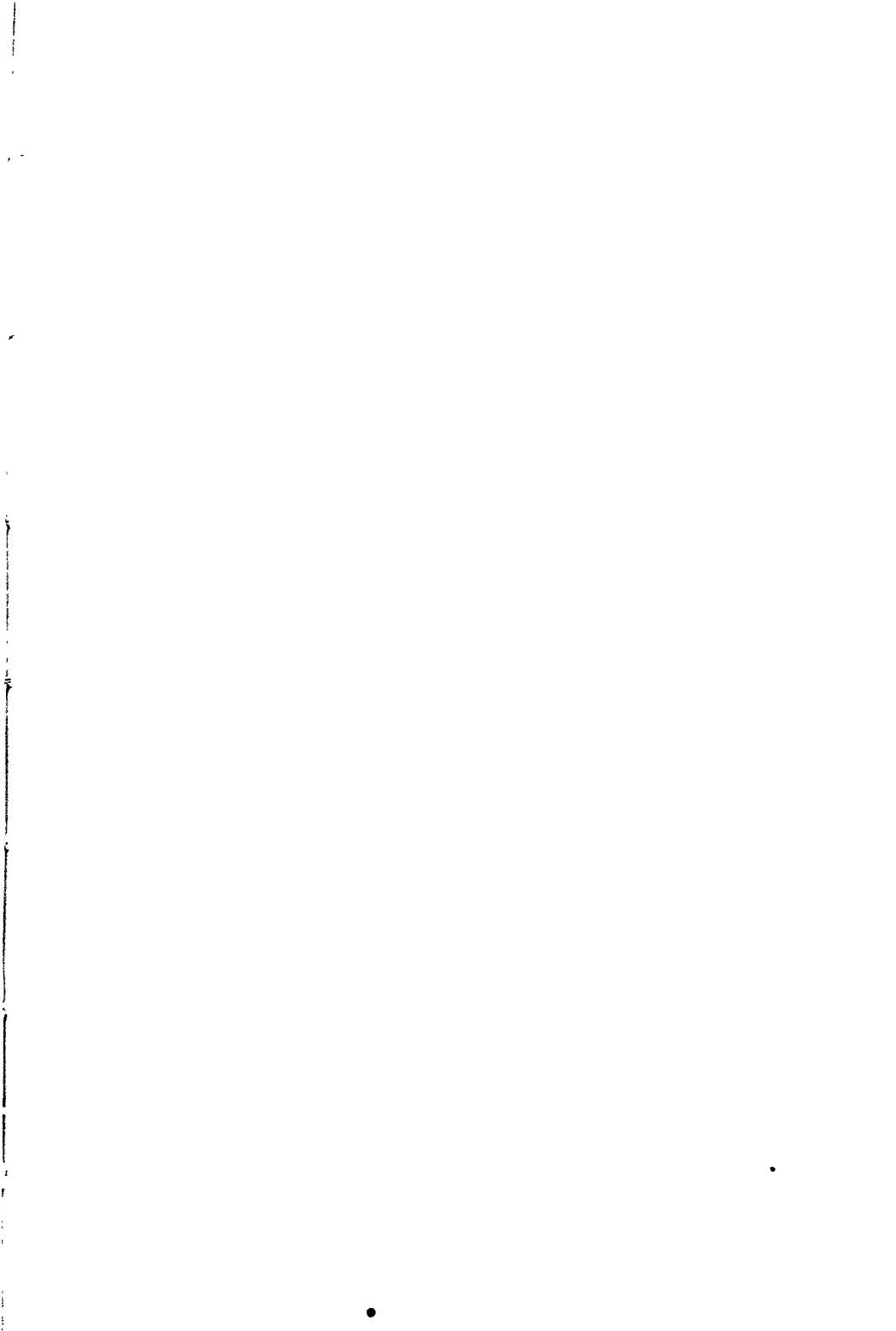
वेदी भी होती है। दोनों शैली के मंदिरों में गर्भगृह के ऊपर शिखर और उसके सर्वोच्च भाग पर आमलक नाम का बड़ा चक्र होता है। आमलक के ऊपर कलश रहता है, और वही ध्वज-दंड भी होता है।

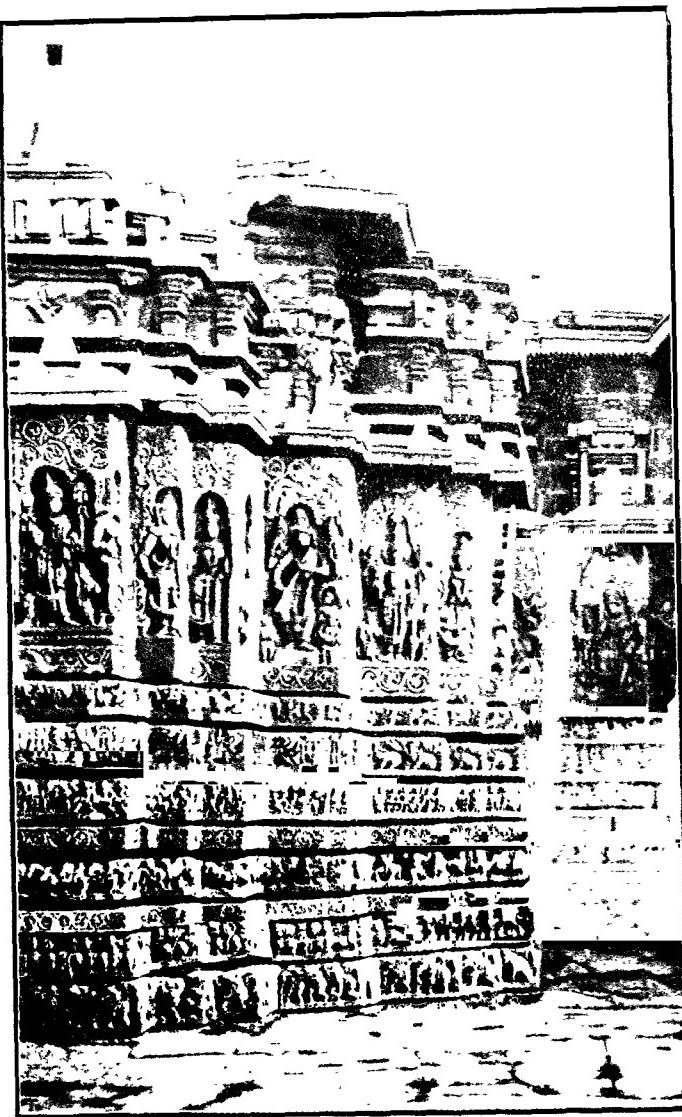
द्रविड़ शैली के कुछ मंदिरों में, जहाँ मुख्य मूर्ति स्थापित होती है उसके ऊपर, चतुरस्त आकृति का विमान नामक कई मंजिलों का ऊँचा मंडप रहता है। वह ज्यों ज्यों ऊँचा होता जाता है, त्यों त्यों उसका फैलाव कम होता जाता है और ऊपर जाकर छोटा सा रह जाता है। वस्तुतः इस विमान का ऊपरी विभाग चतुरस्त शंकु जैसी आकृति का होता है। इन विमानों को आर्य-शैली के मंदिरों के शिखर के स्थानापन्न समझना चाहिए। गर्भगृह के आगे मंडप या अनेक स्तंभोंवाले विस्तृत स्थान होते हैं और मंदिर के प्राकार के एक या अधिक द्वारों पर एक बहुत ऊँचा अनेक देवी देवताओं की मूर्तिवाला गोपुर रहता है जिसे 'कोयल' कहते हैं। उत्तरी भारत में पुष्कर वृद्धावन आदि तीर्थ स्थानों में रंगजी आदि के नए बने हुए मंदिर ठोक द्रविड़ शैली के हैं। दक्षिण के पूर्वी और पश्चिमी सोलंकी राजाओं के समय के बने हुए देवमंदिर बहुधा द्रविड़ शैली के हैं, परंतु उनमें उक्त शैली से थोड़ा सा अंतर होने के कारण आधुनिक विद्वान् उनका परिचय चालुक्य शैली के नाम से देते हैं। पश्चिमी भारत के कारीगर भी उनके बनाने में लगाए गए थे जिससे उनकी द्रविड़ शैली में कुछ उत्तरी शैली का मिश्रण हो गया है। इस शैली के मंदिर आदि वंबद्द होते के दक्षिणों विभाग अर्धान् कनड़ प्रदेशों में धारवाड़ से लेकर निजाम और मैसूर राज्य तक, जहाँ चालुक्यों का राज्य रहा, जगह जगह मिलते हैं। नैपाल के शैव और वैष्णव मंदिर उत्तर भारत की शैली के हैं और कुछ मंदिर चौनी शैली के छज्जेदार और कई मंजिलवाले भी हैं।



(२०) द्वचिं गोली का हिंदू मंदिर

(तजोर)





(२१) हारसलेश्वर के मंदिर का बाहरी पार्श्व

[हलेविड]

पृष्ठ १७७

(१७७)

हमारे समय के भिन्न भिन्न शैलियों के सुंदर मंदिर सैकड़ों स्थानों पर विद्यमान हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है।

आर्य शैली के ब्राह्मणों के मंदिर भुवनेश्वर (उड़ीसा में), नागदा और बाड़ोली¹ (दोनों उदयपुर राज्य में), चित्तोड़गढ़, ग्वालियर, चंद्रावती (भालावाड़ राज्य में), ओसियाँ (जोधपुर राज्य में), चंद्रावती, वर्मण (दोनों सिरोही राज्य में), खजुराहो (मध्य-भारत में), कनारक, लिंगराज (उड़ीसा में) आदि अनेक स्थानों में हैं। इसी तरह आबू, खजुराहो, नागदा, मुक्तगिरि और पालीताना आदि स्थानों के जैन मंदिर भारतीय शिल्पकला के उत्तम नमूने हैं। द्रविड़ शैली के मामलपुर (महाबलिपुरम्—चिंगलीपट्ट जिले में), कांजीवरम् (कांची), इलोरा, तंजोर, बेलूर (मैसूर के हसन जिले में), बादामी (बीजापुर जिले में), श्रीरंगम् (त्रिचनापली में) और श्रवणबैलगोला (हसन जिले में) आदि स्थानों में हैं।

ये मंदिर शिल्प की हाई से कितने उत्तम हैं, यह कुछ विद्वानों के निम्नलिखित उद्घरणों से स्पष्ट हो जायगा।

बाड़ोली के मंदिर की तच्छण-कला की प्रशंसा करते हुए कर्नल टॉड ने लिखा है—‘उसकी विचित्र और भव्य रचना का यथावत् वर्णन करना लेखनी की शक्ति से बाहर है। यहाँ मानो हुनर का खजाना खाली कर दिया गया है। उसके संभ, छत और शिखर का एक एक पत्थर छोटे से मंदिर का दृश्य बतलाता है। प्रत्येक संभ पर खुदाई का काम इतना सुंदर और बारीकी के साथ किया गया है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता॥’ भारतीय शिल्प के प्रसिद्ध विद्वान् मि-फर्गुसन लिखते हैं—‘आबू के मंदिरों में, जो संगमरमर के बने हुए हैं, अत्यंत परिश्रम सहन करनेवाली हिंदुओं की टाँकी से फीते जैसी बारीकी के साथ ऐसी मनोहर आकृतियाँ

* टॉड; राजस्थान; जिल्द ३ पृ० १७५२—८३ (आक्सफॉर्ड संकरण)।

बनाई गई हैं कि उनकी नकल कागज पर बनाने में कितने ही समय तथा परिश्रम से भी मैं सफल नहीं हो सका* ।

हैलेविड के मंदिर के विषय में विसेंट स्मिथ ने लिखा है—‘यह मंदिर धैर्यशील मानव-जाति के श्रम का अत्यंत आश्चर्यजनक नमूना है । इसकी सुंदर कारीगरी के काम को देखते देखते आँखें रुप नहीं होतीं† ।’ इसी मंदिर के विषय में प्रोफेसर ए० ए० मेकडानल का कथन है कि संसार भर में शायद दूसरा कोई ऐसा मंदिर न होगा, जिसके बाहरी भाग में ऐसा अद्भुत सुदार्द का काम किया गया हो । नीचे की चौतरफ हाथियोंवाली पंक्ति (गजथर) में दो हजार हाथी बनाए गए हैं, जिनमें से आँकृति में कोई भी दो परस्पर नहीं मिलते‡ ।

मथुरा के प्राचीन मंदिरों के, जो अब नष्ट हो चुके हैं, विषय में महमूद गजनवी ने गजनी के हाकिम को लिखा था कि यहाँ (मथुरा में) असंख्य मंदिरों के अतिरिक्त १००० प्रासाद मुसलमानों के ईमान के सदरा दृढ़ हैं । उनमें से कई तो संगमरमर के बने हुए हैं, जिनके बनाने में करोड़ों दीनार खर्च हुए होंगे । ऐसी इमारतें यदि २०० वर्ष लगें तो भी नहीं बन सकतीं§ ।

दिल्ली, प्रयाग, सारनाथ आदि के अशोक-स्तंभ भारतीय शिल्प के उपलब्ध स्तंभों में सबसे प्राचीन हैं । ये बृहत्काय स्तंभ एक ही

स्तंभ

पत्थर से काटे गए हैं और उन पर पालिश

इतना सुंदर हुआ है कि वह आज तक अधिकांश में विद्यमान है और आजकल ऐसे पाषणों पर ऐसा सुंदर पालिश

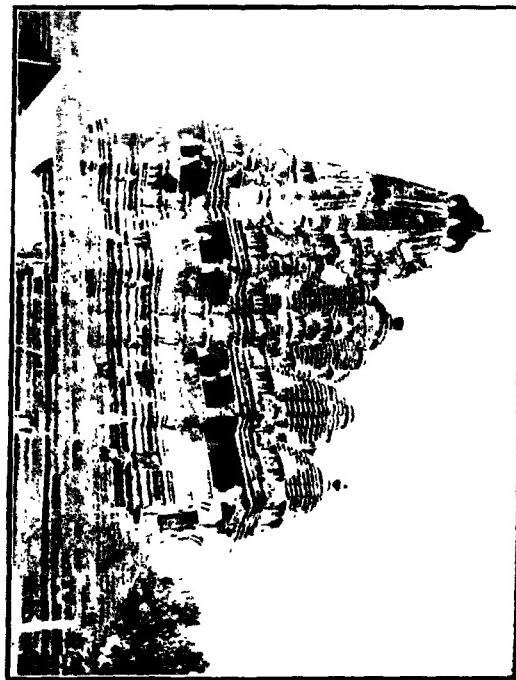
* पिक्चरस इलस्ट्रेशन आफ एंथंट आर्किटेक्चर इन हिंदुस्तान ।

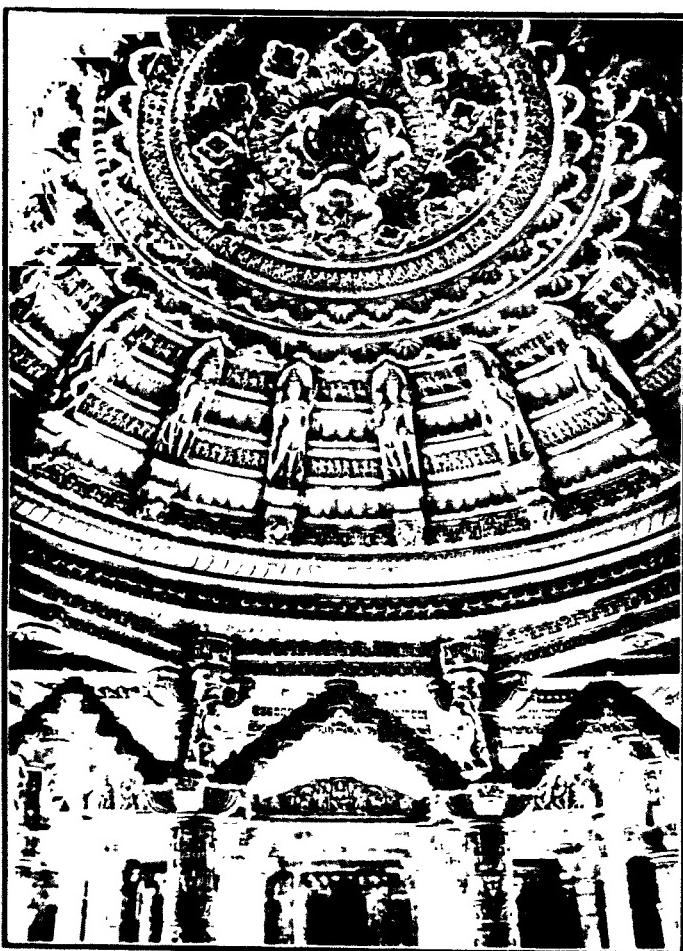
† हिस्त्री आफ फाइन आर्ट इन इंडिया, पृ० ४२ ।

‡ इंडियाज पास्ट, पृ० ८३ ।

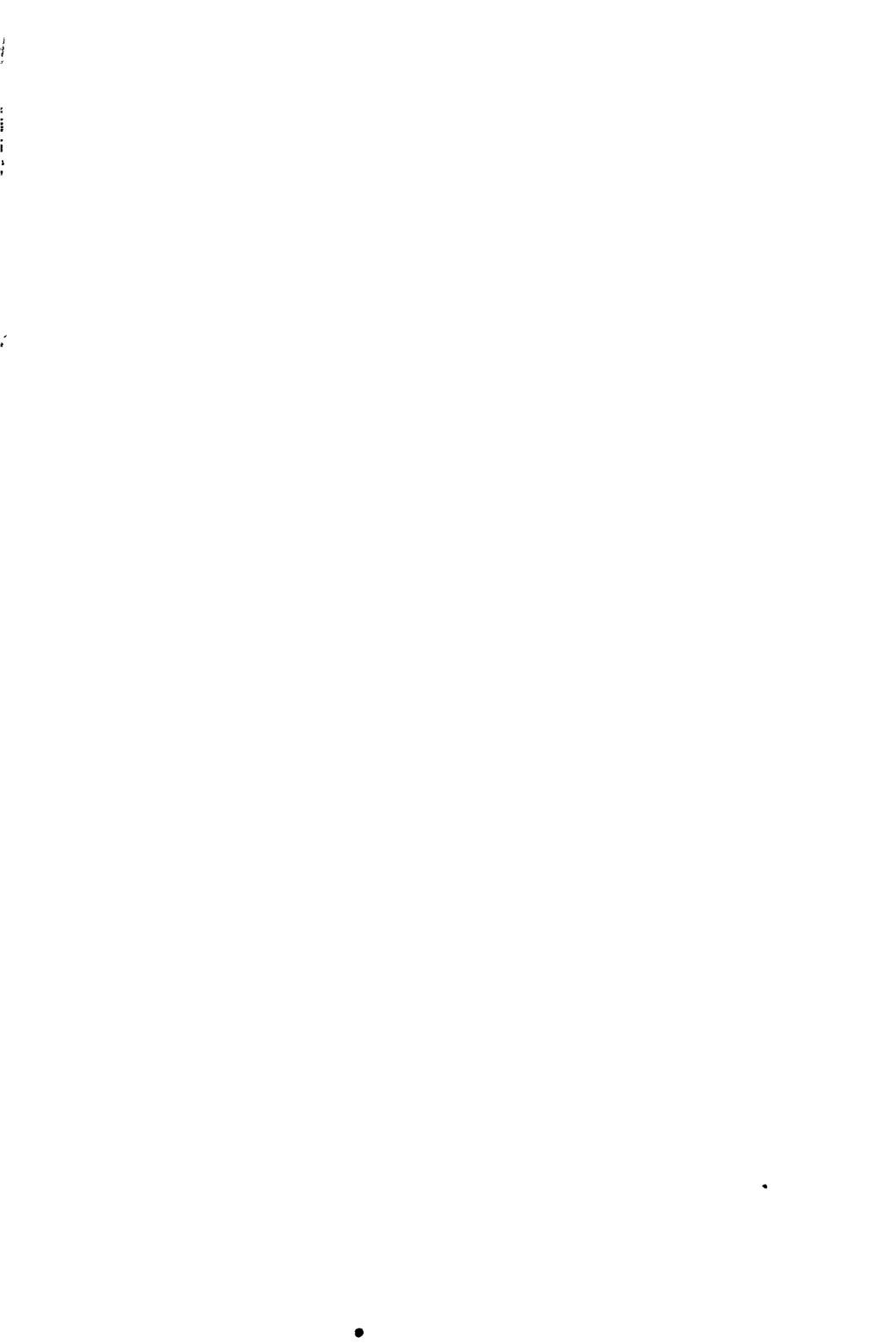
§ ब्रिग, फिरिता, जिं १, पृ० ४८—४९ ।

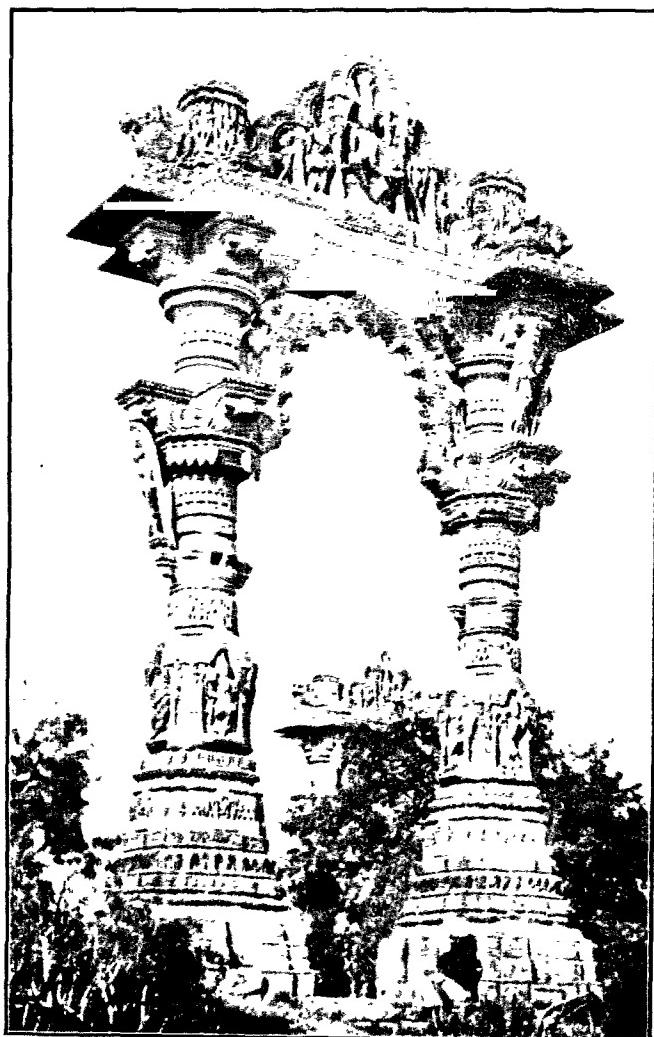
() आयोगी का हिंदू मंदिर
[वर्जनाहा]





(२३) आवृ के जैन मंदिर का गुंबज और द्वार





(२४) वडनगर (गुजरात) के मंदिर का तोरण

(१७६)

होना असंभव सा है। इन स्तंभों के ऊपर सुंदर कारीगरीवाले सिरे लगे हुए थे, जिनके अग्र भाग पर कहीं एक शेर और कहीं चार शेर आदि बने हुए थे। ऐसे दो तीन सिरे अब तक विद्यमान हैं, जो उस समय की उन्नत कला के साक्षी रूप हैं। अशोक के पीछे बेसनगर का प्रसिद्ध स्तंभ, महरोली (दिल्ली से १३ मील) वाला प्रसिद्ध लोह स्तंभ और दूसरे कई एक स्तंभ हैं, जो हमारे निर्दिष्ट काल के पूर्व के हैं। हमारे समय के स्तंभों में राजा यशोधर्मन के मंदसोर के निकटवर्ती सौंदनी गाँववाले दो विशाल स्तंभ हैं, जो उक्त राजा की विजय के स्मारक हैं। ये विशाल स्तंभ एक ही पथर से नहीं काटे गए, किंतु अलग अलग विभागों से बने हैं, जो एक दूसरे पर जमा दिए गए हैं। इस समय वे खड़े नहीं, किंतु धराशायी हो रहे हैं। यशोधर्म के स्तंभों के अतिरिक्त भिन्न भिन्न स्थानों पर कई मंदिरों के आगे खड़े किए हुए अथवा मंदिरादि में लगे हुए भिन्न भिन्न शैली के हजारों स्तंभ या तो रण विद्यमान हैं, जिनकी कारीगरी का अनुमान उन्हें देखने से ही हो सकता है।

बड़ी बड़ी मूर्तियों के होने का सबसे प्राचीन प्रमाण कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में मिलता है, परंतु उपलब्ध मूर्तियों में सबसे प्राचीन मूर्ति या 'यूसफजई' अर्थात् गांधार से मिली हुई बुद्ध की भिन्न भिन्न कद की मूर्तियाँ तथा मथुरा के कंकाली टीलेवाली जैन मूर्तियाँ एवं राजा कनिष्ठ आदि की मूर्तियाँ हैं। ये सब ई० सन् की पहली शताब्दी के आसपास की हैं। हिंदुओं के भागवत संप्रदाय के विष्णु मंदिर ई० सन् पूर्व की दूसरी शताब्दी में विद्यमान थे, ऐसा बेसनगर (विदिशा) तथा नगरी (मध्यमिका, चित्तोड़ से सात मील उत्तर में) के शिलालेखों से निश्चित है। बेसनगर के उक्त विशाल स्तंभ पर के शिलालेख से पाया जाता है कि "राजा एंटियाकिलदिस के समय में तच्छिला

(१८०)

(पंजाव) नगर के रहनेवाले दिय (Dion) के पुत्र हेलियोदोर (Heliodorus) ने, जो भागवत (वैष्णव) था, देवताओं के देवता वासुदेव (विष्णु) का यह 'गृहड़ध्वज' बनवाया ।" अश्वमेध यज्ञ करनेवाले पाराशरी-पुत्र सर्वतात ने नारायणवट नामक स्थान पर भगवान् संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिये शिला-प्राकार बनवाया, ऐसा ई० स० पूर्व की दूसरी शताब्दी के नगरी के अपूर्ण शिलालेख से पाया जाता है । वौद्धों में मूर्तिपूजा का प्रचार महायान संप्रदाय के साथ ईश्वी सन् की पहली शताब्दी के आस-पास होना पाया जाता है, परंतु मूर्तिपूजा के उपर्युक्त दोनों उदाहरण ईसा से पूर्व के हैं : इसी तरह ई० सन् की छठों शताब्दी तक की सैकड़ों मूर्तियाँ मिली हैं, जिनका संबंध हमारे निर्दिष्ट समय से नहीं है । हमारे समय की हजारों हिंदू और जैन देवमूर्तियाँ मिलती हैं और कलकत्ता, लखनऊ, पेशावर, अजमेर, मद्रास, बंबई आदि के अद्भुतालयों तथा स्थान स्थान के मंदिरों आदि में विद्यमान हैं । ऐसे ही कई एक राजाओं की और धर्माचार्यों की मूर्तियाँ भी मिलती हैं । अत्यंत भावपूर्ण और सुंदर कारीगरी को देखकर इनमें से बहुत सी मूर्तियाँ की अनेक विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है, परंतु यह बात निश्चित है कि ई० सन् की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पाषाण के शिल्प-कार्य में क्रमशः हास होता गया और मूर्तियाँ तथा खुदाई का काम जैसा सुंदर पहले बनता था, वैसा पिछले समय में न बन सका ।

भारतीय शिल्पकला के संबंध में यहाँ कुछ विद्वानों के कथन उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा ।

मिस्टर हैवेल ने लिखा है—“किसी भी जाति के शिल्प का ठीक ठीक अनुमान करने में उस जाति ने दूसरों से क्या सीखा है, यह सोचने की हमें आवश्यकता नहीं, किंतु यह सोचने की आव-

श्यकता है कि उसने अन्य जातियों को क्या सिखलाया है। इम दृष्टि से देखने से भारतीय शिल्पकला का स्थान यूरोप और एशिया की सब शैलियों में सर्वोच्च है। पुरातत्त्वान्वेषण की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि शिल्प की कोई भी शैली न तो सर्वथा खदेशी है और न ऐसी है, जिसमें दूसरों से कुछ सीमाने की आवश्यकता न हुई हो। ग्रीस और इटली की शिल्प-शैलियाँ भी इस नियम का अपवाद नहीं हैं। भारत ने जो कुछ बाहरवालों से सीखा है उससे सौ गुना बाहरवालों को सिखलाया है*।”

मिं ग्रिफिथ का कथन है—‘गुफाओं का दीर्घ काल तक निरीक्षण करने पर ऐसा कहीं भी मरं देखने में नहीं आया कि कारीगर ने पत्थर को आवश्यकता से कुछ भी अधिक काटा हो।’

प्रोफेसर हीरन लिखते हैं—‘चतुरम्ब स्तंभों पर की सुदाई के काम और स्थी की आकृतिवाले स्तंभों के बनाने में हिंदू लोग ग्रीस और मिश्रवालों से बहुत बढ़े चढ़े थे†।’ इसी तरह हैवल ने लिखा है—‘भारतीय शिल्प की मूर्ति में प्रदर्शित जो गहराई तथा आंतरिक भाव दीख पड़ते हैं, वे ग्रीस में नहीं पाए जाते‡।’

हमारे समय में वास्तुविद्या का बहुत विकास हो चुका था। इस विषय के कई ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं। अभी कुछ ही समय

हुआ राजा भोज का बनाया हुआ ‘समरांगण-
वार्तु विद्या का सूत्रधार’ नामक एक अत्यंत उत्कृष्ट तथा महत्त्व-
उच्चति पूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक से जान पड़ता है कि हमारे समय तक आश्चर्यजनक वैज्ञानिक उन्नति

* हैव २; इंडियन स्कल्प्चर एंड पेंटिंग; पृ० १६६।

† दी पेंटिंग्स इन दी बुद्धिस्ट केव टैपल्स ऑफ अजंडा।

‡ हरविलास सारदा; हिंदू सुपीरियौरिटी; पृ० ३४३।

§ हैवल; इंडियन स्कल्प्चर एंड पेंटिंग, पृ० १४४।

(१८२)

हो चुकी थी । इस ग्रंथ में नगर, दुर्ग आदि के लिये उचित भूमि का वर्णन, शहर बसाने, उसके चारों ओर स्वार्ड बनाने, राजाओं के भिन्न भिन्न प्रकार के महल, उद्घान तथा मूर्तियाँ आदि बनाने का विस्तृत और महत्त्वपूर्ण वर्णन है, जो हम यहाँ विस्तार भय से नहीं करते ।

उक्त पुस्तक का ३१ वाँ अध्याय—यंत्राध्याय—बहुत महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक उत्तरानि है । उसमें भिन्न भिन्न प्रकार के बहुत से यंत्रों का वर्णन है । उनमें से हम कुछ का उल्लेख नीचे करते हैं—

यंत्र द्वारा सूर्य की प्रदक्षिणा और ग्रहों की गति बनाई जाय । कृत्रिम पुरुष यंत्र द्वारा परस्पर लड़ते चलते फिरते और बंसी बजाते थे । स्वयं पक्षियों की सी आवाज करनेवाले लकड़ी के पक्षियों और कंकणों तथा कुंडलों के बनाने का भी उसमें उल्लेख है । लकड़ी के ऐसे मनुष्य बनाए जायें, जो गुप्त रूप से सूत्र-द्वारा वृत्त्य करें, परस्पर लड़ें और चोरों को पीटें ; भिन्न भिन्न प्रकार के सुंदर फव्वारं बनाकर धारागृहों में लगाए जायें । एक ऐसी खींचनाई जाय, जिसके स्तरों, नामि, आँखों और नसों से जलधारा बहें । यंत्रों से शतनी और उष्टुप्रीव आदि दुर्गरक्षक अब्ज चलाए जायें । कृत्रिम भरने भी बागों में बनाए जायें । आधुनिक 'लिपट' जैसे यंत्र का भी वर्णन उसमें है, जिसके द्वारा एक मंजिल से दूसरी मंजिल में जाया जाता था । दिए की एक ऐसी पुतली बनाई जाय, जो दीपक में तेल घट जाने पर उसमें तेल डाल दे और स्वयं ताल की गति से नाचे । एक ऐसे यांत्रिक हाथी का भी वर्णन है, जो पानी पीता जाय, परंतु यह मालूम न हो कि पानी कहाँ जाता है । इस प्रकार के कई अद्भुत अद्भुत यंत्रों का वर्णन उसमें मिलता है, परंतु सबसे अधिक आश्चर्यप्रद और महत्त्वपूर्ण बात

आकाश में चलनेवाले 'विमान' का वर्णन है। उसमें विमान के विषय में लिखा है कि महाविहंग नाम की लकड़ी का विमान बनाया जाय, उसमें रसयंत्र रखा जाय, जिसकं नीचे आग से भरा हुआ अज्ञनाधार हो। उसमें बैठा हुआ पुरुष पारे की शक्ति से आकाश में उड़ता है। इतना वर्णन से स्पष्ट है कि ग्यारहवीं सदी में इन यंत्रों का बनाना था, परंतु सर्व साधारण में इसका प्रचार न था। इतना वर्णन करते हुए इस प्रथ का कर्ता लिखता है कि हमें बहुत से अन्य यंत्रों का बनाना भी मालूम है, परंतु उनका बनाना फल-प्रद नहीं है, इसलिये उनका वर्णन नहीं लिखा। इस प्रथ से तत्कालीन वैज्ञानिक और शिल्प-साहित्य पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इस विषय की बहुत सी पुस्तकों का निर्देश हम वार्ता के प्रसंग में कर चुके हैं।

चित्रकला

भारतवर्ष जैसे उष्णप्रधान देश में कागज या कपड़े पर खिचे हुए चित्र अधिक काल तक नहीं रह सकते, इसी से ई० स० १२०० तक के ऐसे चित्र यहाँ नहीं मिलते। कितनी गुफाओं के चित्र एक पुस्तकों में विषय-सूचक सुंदर चित्र अवश्य मिलते हैं, परंतु वे सब हमारे निर्दिष्ट काल के पीछे के हैं। उक्त काल के रंगोन चित्र केवल पहाड़ों को सोाद सोादकर बनाई हुई सुंदर विशाल गुफाओं की दीवारों पर हो पाए जाते हैं। वे ही हमारे उक्त काल और उससे पूर्व की चित्रकला के बचे सुन्दर चित्र मात्र हैं। ऐसी अब तक चार गुफाओं का पता लगा है, जिनमें चित्रकला की दृष्टि से अजंटा की गुफाएँ सब से अधिक महत्व की हैं। ये गुफाएँ हैदराबाद राज्य के औरंगाबाद जिले के अजंटा गाँव से पश्चिमोत्तर

में चार मील दूर स्थित पर्वत-श्रेणी में खुदी हुई हैं। इनमें २४ विहार (मठ) और ५ चैत्य (स्तूपवाले विशाल भवन) बने हैं, जिनमें से तेरह में दोवारों, भीतरी छतों, या स्तंभों पर चित्र अंकित किए गए हैं। चित्र-लेखन से पूर्व चट्टान की भित्ति पर एक प्रकार का प्लास्टर लगाकर चूने जैसे किसी पदार्थ की घुटाई की गई है, और उसपर चित्र अंकित किए गए हैं। ये सब गुफाएँ एक समय की कटी हुई नहीं, किंतु अनुमानतः इसवी सन् की चौथी शताब्दी से लगाकर सातवीं शताब्दी के आसपास तक समय समय पर बनी हैं। इनके अंतर्गत भिन्न चित्रों के विषय में भी यही समय समझना चाहिए। कई एक चित्र हमारे व्याख्यान के पूर्ववर्ती काल के होने से उस समय की भारतीय चित्रकला का परिचय देते हैं। अधिकतर चित्र हमारे निर्दिष्ट काल या उससे कुछ ही पूर्ववर्ती समय के हैं। इन चित्रों से उक्त काल की हमारी चित्रकला का परिचय मिलता है। उनमें गौतम बुद्ध की जीवन-घटनाएँ, मातृपोषक जातक, विश्वांतर जातक, पड्दांत जातक, रुह जातक और महाहंस जातक आदि १२ जातकों में वर्णित गौतम बुद्ध की पूर्व जन्म की कथाएँ, धार्मिक इतिहास तथा युद्ध के दृश्य और राजकीय तथा लौकिक चित्र अंकित हैं। ऐसे ही बांधों, जंगलों, रथों, राज-दरबारों, घोड़े, हाथी, हरिण आदि पशुओं, हंस आदि पक्षियों तथा कमल आदि पृष्ठों के अनेक चित्रण बने हुए हैं। इन सबको देखने से दर्शक की आँखों के सामने एक ऐसे नाटक का सा दृश्य उपस्थित हो जाता है, जिम्में जंगलों, शहरों, बांधों और राजमहलों आदि स्थानों में राजा, वीर पुरुष, तपस्वी, प्रत्येक स्थिति के ही पुरुष और स्वर्गीय दूत, गंधर्व, अप्सरा और किन्नर आदि पात्र रूप से हैं। ऐसे सैकड़ों चित्रों में से एक चित्र का परिचय इस अभिप्राय से दिया जाता है कि उनमें से कुछ चित्रों का काल-निर्णय करने में

(१८५)

सहायता मिल सके। तबरी नामक ऐतिहासिक अपनी पुस्तक में लिखता है कि ईरान के बादशाह खुसरो (दूसरे) के सन जुलूस (राज्यवर्प) छत्तीस (ई० स० ६२६) में उसका एल्ची राजा पुलकेशी के पास पत्र और उहफा लेकर गया और पुलकेशी का एल्ची पत्र और उपहार लेकर उसके पास पहुँचा था। उस समय के दरबार का चित्र एक गुफा की दीवार पर अंकित है जिसमें—

राजा गदी विछे हुए सिंहासन पर लंब-गोलाकृतिक तकिए के सहारे बैठा हुआ है, आसपास चौंबर और पंखा करनेवाली खियाँ, तथा अन्य परिचारक खी पुरुष, कोई खड़े और कोई बैठे हुए हैं। राजा के सम्मुख बाईं ओर तीन पुरुष और एक लड़का सुंदर मोतियाँ के आभूषण पहिने हुए बैठे हैं (जो राजा के कुँबर, भाई या अमात्यवर्ग में से होने चाहिए)। राजा अपना दाहिना हाथ उठाकर ईरानी एलची से कुछ कह रहा है। उस (राजा) के सिर पर मुकुट, गले में बड़े बड़े मोती व माणिक की इकलड़ी कंठी, और उसके नीचे सुंदर जड़ाऊ कंठा है। दोनों हाथों में भुजबंध और कड़े हैं। यज्ञोपवीत के स्थान पर पचलड़ी मोतियाँ की माला है, जिसमें प्रवर (ग्रंथि) के स्थान पर पाँच बड़े मोती हैं, और कमर में रत्नजटित मेखला है। पोशाक में आधी जाँघ तक कछनी और बाकी सारा शरीर नंगा है। दक्षिणी लोग जैसे समेटकर दुपट्ठा गले में डालते हैं, उसी कार समेटा हुआ केवल एक दुपट्ठा कंधे से हटकर पीछे के तकिए पर पड़ा हुआ है और उसके दोनों समेटे हुए किनारे गदी के आगे पड़े हुए दीखते हैं। उसका शरीर प्रचंड, पुष्ट और गौरवर्ण है (चेहरे के स्थान का चूना उखड़ जाने से वह नहीं दीख सकता)। दरबार में जितने हिंदुस्तानी पुरुष हैं उनके शरीर पर आधी जाँघ तक कछनी के सिवा कोई वस्त्र नहीं दीखता और न किसी के दाढ़ी या मूँछ है। कमर से लगाकर आधी जाँघ या कुछ

नीचे तक का खियां के शरीर का हिस्सा वख से ढका हुआ है, और किसी किसी के स्तनों पर कपड़े की पट्टी बँधी हुई है, वाकी सारा शरीर खुला है। यहाँ के प्राचीन चित्रादि में खियां के स्तन बहुधा सुले हुए पाए जाने हैं, या कभी कभी उन पर पट्टियाँ बँधी हुई दीख पड़ती हैं। पट्टियाँ बँधने का रिवाज प्राचीन है। श्रीमद्भागवत में भी उसका वर्णन मिलता है—

तदंगसंगप्रमुदाकुलेंद्रियाः केशान्दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।

नांजः प्रतिव्योदुमलं ब्रजखियां विस्स्तमालाभरणाः कुरुद्वृह * ।

राजा की तरफ एक टक हृषि लगाकर हाथ में ली हुई मोतियों की कई लड़ें या कई लड़वाली कंठी नजर करता हुआ ईरानी एलूचो सम्मुख खड़ा है जिससे राजा कुछ कह रहा है। उसके पीछे एक दूसरा ईरानी हाथ में बोतल सी कोई चीज लिए खड़ा है, जिसके पीछे तीसरा ईरानी तुहफे की चीजों से भरी हुई किश्ती धरे हुए है। उसके पीछे पीछे फेरकर खड़ा हुआ चौथा ईरानी बाहर से हाथ में कुछ चीज लेकर दरवाजे में आते हुए एक दूसरे ईरानी की तरफ देख रहा है और उसके पास एक ईरानी सिपाही कमर में तलबार लगाए खड़ा है और दरवाजे के बाहर ईरानियाँ के साथ के अन्य पुरुष और घोड़े खड़े हैं। ईरानियाँ और हिंदुस्तानियाँ की पोशाक में रात दिन का सांतर है। जब हिंदुस्तानियों का करीब करीब सारा शरीर खुला है तो उनका प्रायः सारा ढका हुआ है। उनके सिर पर ऊंची ईरानी टोपी, कमर तक अँगरखा, चुस्त पायजामा और कई एक के पैरों में मोजे भी हैं और दाढ़ी-मूँछ सबके हैं। ईरानी एलूची (जिससे राजा कुछ कह रहा है) के गले में बड़े बड़े मोतियों की एक लड़ी, पानदार कंठी, कानों में लटकते हुए मोतियों के भूषण और कमर में मोतियों से जड़ी हुई कमरपेटी है। दूसरे किसी ईरानी के

शरीर पर जेवर नहीं है। दरबार में सब जगह फर्श पर पुष्प विश्वरे हुए हैं। राजा के सिंहासन के आगे पीकदानी पड़ी हुई है और चौकियों पर ढक्कनवाले पानदान आदि पात्र रखे हुए हैं*।” इस चित्र से अनुमान होता है कि यह १० स० ६२६ के बाद बना होगा।

अजंटा के चित्र चित्रकला में प्रवीण आचार्यों के हाथ से खिंचे हुए हैं। उनमें अनेक प्रकार का अंग-विन्यास, मुख-मुद्रा, भाव-भंगी और अंग-प्रत्यंगों की सुंदरता, नाना प्रकार के केशपाश, वस्त्राभरण, चेहरों के रंग रूप आदि बहुत उत्तमता से बतलाए गए हैं। इसी तरह पश्च, पक्षी, पत्र पुष्प आदि के चित्र बहुत सुंदर हैं। कई चित्र ऐसे भावपूर्ण हैं कि उनमें चित्रित स्त्री पुरुषों की मानसिक दशा का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन होता है। भिन्न भिन्न प्रकार के रंग और उनके मिश्रण में कमाल किया गया है। चित्रण इतना प्रशस्त और नियमित है कि प्रकृति और सौंदर्य को पूर्ण रूप से समझनेवाले के सिवा दूसरा उन्हें अंकित नहीं कर सकता। इन सब बातों को देखकर चित्रकला के आधुनिक बड़े बड़े विद्रोह भी मुग्ध होकर मुक्त कंठ से इनकी उत्कृष्टता की प्रशंसा करते हैं। मिस्टर ग्रिफिथ ने मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई एक रानी के चित्र की प्रशंसा करते हुए लिखा है—
करण रस और अपना भाव ठीक ठीक प्रदर्शित करने में चित्रकला के इतिहास में इससे बढ़कर कोई चित्र नहीं मिल सकता। फ्लैरेंस के चित्रकार चाहे अधिक अच्छा आलेखन कर सके और वेनिस-वाले अच्छा रंग भर सके, परंतु उनमें से एक भी इससे बढ़कर भाव प्रदर्शित नहीं कर सकता है। चित्र का भाव इस प्रकार है—

झुके हुए सिर, अधसुली आँखें और शिथिल अंग प्रत्यंग के साथ वह रानी मृत्यु-शय्या पर बैठी हुई है। उसकी एक दासी हल्के हाथ से उसे सहारा दिए हुए खड़ी है, और एक दूसरी.

* दी पैटिंज आफ अजंटा—जान ग्रिफिथ रचित, प्लेट नं० २।

(१८८)

चिंतातुर दासी मानो नाड़ी देखाती हो, इस तरह उसका हाथ पकड़े हुए है। उसकी मुखमुद्रा से वह अत्यंत व्यथ प्रतीत होती है, मानो वह यह सोच रही है कि मेरी इस स्वामिनी का प्राण-पखेरु कितना शीघ्र उड़नेवाला है। एक और दासी पंखा लिए हुए खड़ी है और दो पुरुष वाईं तरफ से उसकी ओर देख रहे हैं, जिनके चेहरों पर गहरी उदासीनता छा रही है। नीचे फर्श पर उसके संबंधी बैठे हुए हैं, जो उसके जीवन की आशा छोड़कर शोकाकुल हो रहे हैं। एक अन्य खी हाथ से अपना मुँह ढक्कर बुरी तरह रो रही है।

इन चित्रों के असाधारण कलाकौशल से आकर्षित होकर कई चित्रकलामर्मज्ञों ने इनकी नकलें की और इन पर कई पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

अजंटा की गुफाओं में अंकित जातक आदि को देखने से प्रतीत होता है कि उनके निर्माताओं ने अमरावती, साँची और भरहुत के स्तूपों की शिलाओं पर अंकित जातकों तथा गांधार-शैली के तत्त्वज्ञ कला (sculpture) के नमूनों का सूचनमता से निरीक्षण किया हो, क्योंकि उनमें तथा इनमें बहुत कुछ साम्य पाया जाता है।

इसी तरह ग्वालियर राज्य के अमरभेरा जिले में वाघ गाँव के पास की पर्वतीय गुफाओं में भी बहुत से रंगीन चित्र हैं, जो ई० स० की छठी और सातवीं शताब्दी के अनुमान किए जा सकते हैं। वे भी अजंटा के चित्रों के समान सुंदर, भावपूर्ण और चित्र-कला के उत्तम नमूने हैं। इन चित्रों की भी नकलें हो गई हैं और उन पर एक प्रथं प्रकाशित हो चुका है। लंदन के 'टाइम्स' पत्र ने उक्त चित्रों की समालोचना करते हुए लिखा है कि यूरोप के चित्र उत्तमता में इनकी समानता नहीं कर सकते। 'डेली टैलीग्राफ' पत्र का कथन है कि कला की दृष्टि से ये चित्र इतने उत्कृष्ट हैं कि इनकी प्रशंसा नहीं

की जा सकती । इनका रंग भी बहुत उत्तम है । जीवन और चेष्टा के भाव-प्रदर्शन की दृष्टि से ये चित्र केवल अपूर्व और चित्ताकर्षक संस्कृति को ही नहीं बताते, किंतु वे एक सत्य और विश्वव्यापी प्रभाव के दर्शक हैं ।

कुछ समय पूर्व सित्तन नवासल में, जो कृष्णा नदी के दक्षिणी किनारे पढ़ूकोटा से पश्चिमोत्तर में नौ मील परे है, पहाड़ को काट-कर बनाए हुए मंदिर में भी ऐसे कुछ चित्रों का पता लगा है । इन चित्रों की सबसे पहले टी० ए० गोपीनाथ राव ने देखा । ये चित्र पञ्चव शासक महेंद्रवर्मा (प्रथम) के समय (सातवीं शताब्दी के प्रारंभ) में बनाए गए हों ऐसा अनुमान किया जाता है । इस मंदिर की भीतरी छतों, स्तंभों और उनके सिरों पर ये चित्र अंकित हैं । यहाँ का मुख्य चित्र बरामदे की प्रायः सारी छत को धेरे हुए है । इस चित्र में कमलां से भरा हुआ एक सरोवर बतलाया गया है । पुष्पों के मध्य में मछलियाँ, हंस, भैंसे, हाथी और हाथ में कमल लिए हुए तीन साधु दीखते हैं । उन साधुओं का अंगविन्यास, उनका रंग और चेहरे की मधुरता वस्तुतः बहुत आनंदप्रद है । स्तंभों पर नाचती हुई छियों के चित्र भी हैं । इस मंदिर में अर्धनारी-श्वर, गंधर्वों तथा अप्सराओं के भी चित्र हैं । अर्धनारीश्वर जटा-मुकुट और कुण्डल पहने हुए हैं । उनकी आँखों से दिव्य महत्ता की गहरी सूचना प्रकट होती है । इन चित्रों में से कुछ का रंग फीका पड़ गया है, तो भी चित्रों की उत्तमता का परिचय भली भाँति मिल जाता है । इन चित्रों में से कुछ प्रकाशित भी हो चुके हैं ।

मध्य प्रदेश की सरगुजा रियासत में लद्मणपुर गाँव से १२ मील पश्चिम में रामगढ़ पहाड़ी पर सुदी हुई 'जोगीमारा' गुफा की छत में भी कुछ रंगीन चित्र बने हुए हैं, जो हमारे निर्दिष्ट काल के प्रारंभ के आसपास के माने जाते हैं ।

इन चारों स्थानों में जो भारतीय प्राचीन चित्र मिले हैं वे ही हमारे निर्दिष्ट काल तथा उससे कुछ पूर्व के हमारी चित्रकला के सर्वोक्तुष्ट बचे खुचे नमूने हैं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे उष्णता वाले स्थानों में बारह तेरह सौ वर्ष तक के चित्र बिगड़ते बिगड़ते भी किसी प्रकार अच्छी स्थिति में रह गए और उन्होंने से भारत की प्राचीन समुन्नत चित्रकला की अनुमान होता है।

इस समय के पीछे अनुमान ६०० वर्षों तक भारतीय चित्रकला का इतिहास अंधकार में ही है, क्योंकि उस समय के कोई चित्र नहीं

मिले, परंतु चीनी तुर्किस्तान के खोतान प्रदेश,
भारतीय शिल्पकला दमदनयूलिक और मीरन स्थानों से दीवारों,
का अन्य देशों में प्रभाव काष्ठफलकों या रंशम आदि पर अंकित जो चित्र मिले हैं, वे चौथी से न्यारहवीं शताब्दी तक के आसपास के अनुमान किए जा सकते हैं। उनमें भारतीय चित्रकला का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है। जैसे लंका में भारतीय सभ्यता फैली हुई थी, वैसे मध्य एशिया में तुर्किस्तान या उससे परे तक भारतीय सभ्यता का विस्तार था और भिज भिन्न भारतीय शास्त्रों तथा कलाओं आदि का वहाँ प्रचार हो गया था।

भारतीय चित्रकला यूरोपीय चित्रकला की तरह रूप-प्रधान न होकर भावप्रधान है। हमारे चित्रकार बाहरी अंग प्रत्यंगों की

सूक्ष्मता तथा सुंदरता पर उतना विशेष ध्यान
भारतीय चित्रकला नहीं देते, जितना यूरोपवाले। वे उसके की विशेषता आंतरिक और मानसिक भावों को प्रदर्शित करने में ही अपना प्रयत्न सफल समझते हैं। व्यक्त के भीतर जो अव्यक्त की द्वाया छिपी हुई है, उसको प्रकाशित करना ही भारतीयों का मुख्यतम उद्देश्य रहा है। वस्तु के रूप से उन्हें उतनी परवाह नहीं, जितनी मूलभाव को स्पष्ट करने से थी।

मिस्टर ई० वी० हैवेल का कथन है—‘यूरोपीय चित्र मानो पंख कटे हुए हों, ऐसे प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे लोग केवल पार्थिव सौंदर्य का चित्रण जानते थे। भारतीय चित्रकला अंतरिक्ष में ऊँचे उठे हुए हशयों को नीचे पृथकी पर लाने के भाव और सौंदर्य को प्रकट करती है*।’

बंगाल की आधुनिक चित्र-शैली अजंटा की प्राचीन शैली की तरफ झुकी हुई है।

संगीत

यों तो प्राचीन भारत सब प्रकार की विद्या एवं कला-कौशल में बड़ी उन्नति कर चुका था, परंतु संगीत कला में तो इस देश ने बहुत ही अधिक उन्नति कर ली थी। अर्वाचीन वैज्ञानिकों ने जिन जिन वर्तों से संगीत का महत्व माना है, वे सब वैदिक काल में भी यहाँ विद्यमान थीं। उस समय कई प्रकार की वीणा, भाँझ, बंसी, मृदंग आदि वाद्य काम में आते थे। वैदिक साहित्य में भिन्न भिन्न प्रकार की वीणाओं के नाम ‘वीणा’, ‘काण्डवीणा’ और ‘कर्करी † आदि मिलते हैं। ‘भाँझ को आधाटि‡’ या ‘आधाटि’ कहते थे और इस वाद्य का प्रयोग नृत्य के समय होता था। बंसी के नाम ‘तूणवर्ण’ और ‘नाढ़ी’ × मिलते हैं। मृदंग आदि चमड़े से मढ़े हुए वा † ‘आड़-

* दृष्टियन स्कल्पचर्स एंड पेंटिंग्स; पृ० ८८।

† काठक संहिता (३४ । ५)।

‡ ऋग्वेद २ । ४३ । ३ ॥ अथर्ववेद ४ । ३७ । ४ ।

§ वही; १० । १४६ । २ ।

|| अथर्ववेद ४ । ३७ । ४ ।

¶ तैत्तिरीय संहिता ६ । १ । ४ । १ ।

× ऋग्वेद १० । १३५ । ७ ।

बर*’, ‘दुंदुभित†’, ‘भूमि दुंदुभिफ‡’ इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि भारतीय मृदंग आदि बाजे तक वैज्ञानिक सिद्धांत पर बनाए जाते हैं। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि तार के वायों का प्रचार उसी जाति में होना संभव है, जिसने संगीत में पूर्ण उन्नति कर ली हो। तंतुवायों में वीणा सर्वोत्तम मानी गई है, और वैदिक काल में यहाँ उसका बहुत प्रचार होना यही बतलाता है कि संगीत कला ने उस समय भी बड़ी उन्नति कर ली थी, जब कि संसार की बहुत सी जातियाँ सम्भवता के निकट भी नहीं पहुँचने पाई थीं।

प्राचीन काल में भारत के राजा आदि संगीत के ज्ञान को बड़े गौरव का विषय समझते थे और अपनी संतान को इस कला की शिक्षा दिलाते थे। पांडवों के बारह वर्ष के बनवास के पीछे एक वर्ष के अज्ञातवास के समय अर्जुन ने अपने को बृहन्नला नामक नपुंसक प्रकट कर राजा विराट की पुत्री उत्तरा को संगीत सिखाने की सेवा स्वीकार की थी। पांडुवंशी जन्मेजय का प्रपौत्र उदयन, जिसको वत्सराज भी कहते थे, यांगंधरायण आदि मंत्रियाँ पर राज्यभार डालकर वीणा बजाने और मृगयादि-विनोद में सदा लगा रहता था। वह अपनी वीणा के मध्युर स्वर से हथियों को वश कर बनों में से उन्हें पकड़ लाया करता था। एक समय अपने शत्रु उज्जैन के राजा चंडमहासेन (प्रद्योत) के हाथ में वह कैद हुआ और संगीत कला में निपुण होने के कारण चंडमहासेन ने उसे अपनी पुत्री वासवदत्ता को संगीत सिखाने के लिये नियुक्त किया। इन दो ही उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल के राजा संगीत-प्रिय

* वाजसनेयी संहिता ३० । ३६ ।

† ऋग्वेद १ । २८ । ५ ।

‡ तैत्तिरीय संहिता ७ । २ । ६ । ३ ।

(१८३)

होने थे और संगीत-वेत्ताओं को सादर अपने यहाँ रखकर इस कला की उन्नति कराते थे। राजा कनिष्ठ के दरबार का प्रसिद्ध कवि अश्वघोष धुरंधर गायनाचार्य भी था। गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त प्रयाग के स्तंभ-लेख में अपने को संगीत में तुंवुरु और नारद से बढ़-कर बतलाता है और उसके एक प्रकार के सिक्कों पर वाद्य वजाते हुए उसी राजा की मूर्ति बनी है। विक्रम संवत् की पाँचवीं शताब्दी में ईरान के बादशाह बहराम गोर का हिंदुस्तान से १२००० गवैयां का नौकरी के लिये ईरान भेजना वहाँ के इतिहास में लिखा है*।

हमारे निर्दिष्ट काल में भी संगीत की पर्याप्त उन्नति थी। नृत्य का सामाजिक जीवन में पर्याप्त भाग था। स्त्रियों को तो नृत्य की विशेष शिक्षा दी जाती थी। राज्यश्री को संगीत सिखाने के लिये विशेष प्रबंध किया गया था, जैसा कि 'हर्षचरित' से पाया जाता है। स्वयं हर्ष की 'रत्नावली' में रानी के द्वारा प्रियदर्शिका को संगीत के तीनों अंगों के सिखाने के प्रबंध का उल्लेख है। ऐसे ही हर्ष के समय में नाढ़शाला (प्रेक्षागृह) तथा संगीतभवन होने का भी उल्लेख मिलता है। राजाओं के दरबार में नाच, गान आदि होता था; बाण ने हर्ष के दरबार में बंदी (स्तुतिगायक), मार्दगिक (मृदंग वजानेवाला), सैरंधी, लासक (नाचनेवाला), शैलालि (नट) और नर्तकी आदि का वर्णन किया है। भक्ति-मार्ग के साथ संगीत-कला की भी विशेष उन्नति हुई। संगीत विषयक प्रथाएँ और आचारों का परिचय वाङ्मय के प्रकरण में दिया जा चुका है।

कई बातों में यूरोपीय संगीत भारतीय संगीत से मिलता जुलता है, जिसके कारण भी विवेचना करते हुए सर विलियम हंटर ने लिखा है—‘संगीत-निपि (Notation) भारत से ईरान में, फिर .

* राजपूताने का इतिहास; जिल्ड १; पृ० २६—३०।

(१८४)

अरब में और वहाँ से गाइडो डो अरेजों (Guido d' Arezzo) के द्वारा १० स० की खारहवीं शताब्दी में यूरोप में पहुँची* । प्रोफेसर बेवर का भी यही मत है । ऐनी विल्सन लिखती हैं—‘हिंदुओं को इस बात का अभिमान करना चाहिए कि उनकी संगीत लिपि (Notation) सबसे प्राचीन है† ।

* विलियम हंटर; इंडियन गैजेटियर; इंडिया पृ० २२३ ।

† शार्ट अकाउंट आफ दी हिंदू सिस्टम्स आफ म्यूजिक; पृ० ५ ।

अनुक्रमणिका

- अंक—ग्रीक—११; डिमोटिक—१११; किनिशियन—१०;
रोमन—१११;—विद्या का भारत में आविष्कार १०८
- अंकक्रम—उत्पत्ति तथा प्रचार का इतिहास ११३; प्राचीन भारत का—१०६; मिश्र का पुराना—११०; मिश्र का सुधरा हुआ—१११
- अंकगणित—पर पुस्तके, ११२
- अंकशैली—प्राचीन, अशोक के लेखों के उदाहरण ११०; भारतीय—, अलब्रेरुनी का मत ११४; नवीन-शैली के—, उसका प्रचारक्रम ११३; नवीनशैली, बख्शाली गाँव में खोदकर निकाली पुस्तक में ११२; दशगुणोत्तर—योगसूत्र के भाष्य में ११२; वृहत्संहिता की टीका में भट्टोपद्म द्वारा पुलिश सिद्धांत का उद्धरण ११२, वराहमिहिर की पंचसिद्धांतिका में ११२
- अंत्यज—हनकी आठ श्वेणियां, अल-बेरुनी का उल्लेख ४७
- अकादेवी—विकासादित्य की बहिन, राजकार्य में नियुण्ता ६६
- अब्दोभ्यतीर्थ १६
- अजंटा—देखो चित्रणकला अद्वैतवाद १००
- अद्वैत संप्रदाय—प्रचार का कारण ६७
- अनहिलवाडा—१५
- अनेकसेचिंस—दर्शनाभ्यासार्थ भारत आया १०१
- अनेकार्थसमुच्चय—शास्त्र का ८७
- अपअङ्ग भाषा १३७;—का साहित्य १३७;—में डिंगल भाषा के गीत १३७
- अपवर्ग—प्रान्ति का उपाय, न्यायदर्शन के अनुसार ८८
- अभिधानप्यदीपिका—योगगलायनरचित, पाली का कोश १३६
- अभिधान-रत्नमाला—हलायुध की ८७
- अमरकोप—अमरसिंह का ८६; —का परिशिष्ट, श्रिकांडशेष पुरुषोत्तमदेव रचित ८६;—का प्रसिद्ध टीकाकार, भट्टचारी-स्वामी ८६

(१८६)

- अमरुशतक—४८ मैकडांनल का आदित्य भक्त—हर्ष के पूर्वज ३१, ३२
मत ७६ आध्यात्मिक जीवन—भारतीयों का,
अर्जे बहर—आर्यभट के ग्रंथों का ५६
अर्जी अनुवाद १०६ आन्वेचिका १३३
अर्थशास्त्र—कौटिल्य का १२०; नीति- आमूषण ४२;—पर हुएनत्संग का मत
शास्त्र का पर्याय १३०; वर्तमान ४२; नय और तुलाक ४३
—१३२ धाव १२७
अर्धमाघधी—में लिखे ग्रंथ १३५ आयुर्वेद—वैदिक साहित्य में—११८;
अलंकार शास्त्र—के मुख्य लक्षक तथा —का प्रभाव, यूरोपीय चिकित्सा
ग्रंथ ८३ पर १२५; डाक्टर सील का मत
अल्गोरिट्मस—अल्खारिज्मी का १२७;—के तीन जन्मदाता
अल्खरांतर ११४ आचार्यों का अग्नवेद में उल्लेख
अलमनसूर—वैद्यक ग्रंथों का अरवी १२०, वृंद का सिद्धयोग—११६
में अनुवाद करनवाला १२६ आर्किमीडीस ११८
अलख (अल्ख) सूरि—काव्यप्रकाश आर्थिक अवस्था १६३
के शेष भाग का लिखनेवाला ८३ आर्यभट १०४
अलबेस्त्री ६२, १२६ आर्यभट—का आर्यभटीय १०३;—
अवंतिवर्मी २४ (दूसरा) का आर्यसिद्धांत १०३
अवंतिसुंदरी—राजशेखर की विदुपी आलवार राजा १७
पत्नी ६४ आवांतिक भाषा (चूलिका पैशाची
अवतार—जैनों के—, बौद्धों के—, या भूत भाषा) १३६
हिंदुओं के—३८ इत्संग—५, १४६, १६६
अविद्या—दुःखों का मूल कारण ४ इन्हन सुरदाद—भारत में सात श्रेणियों
अव्ययोप ७५ का वर्णन ४५
अव्यमेव यज्ञ ८ इस्लाम—के प्रचार में हिंदुओं की
अशोक—मार्यवंशी सत्राद् ३ उदारता ३६
अहिंसा ५ उक्त यज्ञ ५
अहिंसावाद ७ उत्तराधिकार संबंधी नियम १५६
आकर्षण शक्ति—पृथ्वी में, १०५ उज्ज्वल दत्त—उणादि सूत्रों का टीका-
आगम २० कार ८५

- उदयसुन्दरी कथा—सोढ़ल कृत ८० कवि—उनके तथा उनके ग्रंथों के
उपचास-चिकित्सा १२२ नाम ७८
- एनीपद शब्द १२२ कर्वेंद्र-वचन-समुच्चय—‘टापस’-प्रका-
शित ७८
- ओदीच्य—द्विड़ों का एक भेद ४४
- ओजार—तेज धारवाले, राय का मत १६८;—की सूक्ष्मता १७० चत्रिय—द्वारा खाट पर मरना निंद.
ओपवार्ण्य—पाठलिपुत्र के, काहियान नीय ६३;—हा उच्च जीवन,
द्वारा वर्णित १२५ हुएन्संग का उल्लेख ४५;
ओपविशाख—भारतीय, विलियम हंटर इनका समाज में स्थान ४४;
का मत १२६ इनकी दो श्रेणियाँ, कटरिय
ओली भाषा का प्राचीन और सबकुट्रिय—४५; पेशे के
वैयाकरण १३४ अनुसार—४५; इनमें मध्य
कछनी (halfpaint) ५४ वर्ज्य, अल्मसजड़ी का उल्लेख
कड़फिसित २० ४५, इनमें शिर्जा का प्रचार
कथाएँ ७६ ४४; इनमें वंश, सूर्यवंश और
कनड़ी भाषा के ग्रंथ १४१ चंद्रवंश ४५; वंशों का उल्लेख,
कनड़ी साहिल १४१ राजतरंगिणी में ४६
- क्लिपिक ६ चेन्नगणितशाख—भूमिमापन पर १३३
- कपालकुंडला २३ कर्मेंद्र कवि—के ग्रंथ ७७
- कपिठ १०२ कातंत्र व्याकरण—शर्ववर्मा वा ८८
- कर्मचारियों के नाम १२६, १५७ कापालिक—२७
- कर्मयोग १८ कामशाख—१२७, १२८; —पर लिखने
कर—१२८; भूमि पर—१५७; हुए-वालों के नामों की सूची, वात्स्या-
न्संग द्वारा वर्णित १५८ यन से पूर्व, १२७
- करिकाल चाल—सौ मील का वांध कामसूत्र—वात्स्यायन प्रणीत १२७
- बनवानेवाला १६४ कायस्थ—(अहल्कार) ४७; अह-
कल्ट—२४ ल्कारी का पेशा करनेवाली एक
कविराज मार्ग—अमोघवर्ष-कृत, कनड़ी जाति ४८; सूरज धज—शाकद्वीपी
भाषा में १४१ (मग) वाह्यण ४८; वालभ—
चत्रिय जाति के ४८

- कायावतार २२
 कालामुख २३
 कालिदास ७५
 काव्य, गद्य ७६
 काशिकावृत्ति—का अध्ययन १४२
 काशिकावृत्ति—जयादित्य और वामन
 कृत, पाणिनि के सूत्रों पर भाष्य
 ८८
 कासिम—मुहम्मद ३८
 किरातार्जुनीय—भारती कृत ७५
 कुमारपाल—१५
 कुमारिल भट्ट—७, ३५ एक मीमांसक
 मत का प्रवर्तक १४;—द्वारा
 लिखित का तंत्रवार्तिक और श्लोक
 वार्तिक, मीमांसा पर ग्रंथ १४;
 —द्वारा पशुहिंसा की पुष्टि ३५;
 —द्वारा कर्मकांड का पुनरुज्जीवन
 ३५
 कुरते—५४
 कुरल—कृष्ण तिस्वरुकर कृत
 तामिल का एक उत्कृष्ट ग्रंथ १४०
 कुलोन्तंग चोड़देव, १२०० मील लंबी
 सड़क बनानेवाला १६६
 कुशिक २२
 कुरितयो—मल्लों की ५२
 कुसुमांजलि—उदयनकृत, आस्तिक-
 वाद का उत्कृष्ट ग्रंथ ८६
 कूमेश्वरक १३६
 कूमिरास्त्र १२३
 कृष्णमिथ का प्रबोधचंद्रोदय ८२
 कृपक—इनके संघों का उत्तरेष्ठ समृ-
 तियों में १७०
 कृष्ण १६३,—करना पाप—जैवियों
 तथा बौद्धों का मत ४१, ४६;
 —संवंधी ग्रंथ १३३
 कैंची—(भुरिज), ऋग्वेद में १३
 कोकशास्त्र १२८
 कोपवर्धन पर्वत ६
 कोप—संस्कृत भाषा के, ८६; और
 कोपकारों के नाम ८७
 कोष्टक्य २२
 कौलमत—कर्षणसंजरी में २८
 खेनी—की उन्नति (भूमि के नाप)
 १२८
 गणगंधर्षी राजा १४
 गण—इनका वर्णन, बौद्ध साहित्य में
 १७०; (संघ) कृपकों का १७०.
 —संस्था (Guilds) १७०;
 गड़ेरियों के—१७०; व्यापारियों
 के—१७०
 गणित शास्त्र—की उन्नति—१०७
 भारतीयों द्वारा आधिकृत, बीज-
 गणित, ज्यामिति और खगोल—
 ११६
 गणित शास्त्र—भारतीय, काजोरी
 द्वारा प्रशंसा १०७, १०८;
 डी मॉर्गन द्वारा प्रशंसा १०८;
 —के भिन्न भिन्न विषयों की
 सूची ११५; सरल गणित के
 आठ नियम ११५

गणेश की सूँड का वर्णन—मालती-	सिद्धांत का टीकाकार १०४
साधव में २९	वर्गक ११८; लेटिन में—१२५, सैरेपि-
गतिशास्त्र ११८; ग्रहमंडल संबंधी	यन द्वारा प्रामाणिक माना
११८	जाना १२६
गणिया—सिक्कों के उपर्युक्त नाम का	चरक-संहिता—अग्निवेश के आधार
इतिहास १६२	पर ११६
गर्ग २२	चरित्र—की उज्ज्वलता, भारतीयों
गहुडध्वज—हेलियोदोरनिर्मित १८०	के ६२; मेगस्थनीज का मत ६२;
गानभवन ५१	हुएन्संग का मत ६३; अल्लू-इद-
गीतगोविंद—जयदेवकृत, गेय काव्य	रिसी का मत ६३; शम्सुद्दीन अबु
७७	अबुलुला का मत ६३; मार्कों
गुफाहुँ—दो प्रकार की चैत्य और	पोखो का मत ६३
विहार १७४	चारवाक १००;—संप्रदाय २०, २८;
गुरु ११	—के सूत्रों का कर्ता बृहस्पति १८
गुह ७	चालुक्य १४
गोवर्धनाचार्य—कृत ध्वन्यालोक ८३	चिकित्सा—गशु की, मनुष्य की ११,
गौतम बुद्ध ३ ६, १०, १२	शल्य तथा उसका विद्वान् जीवक
गौडवहो—में मनुष्य तथा पशुओं	१२०
की बलि ६२	चिकित्सासार-संग्रह — चक्रपाणिकृत
ग्रंथलिपि—तामिल की नवीन लिपि	११६
१४०	चिकित्सा शास्त्र—अरब का १२५
ग्रामसंख्या १५३; इनकी निर्माणपद्धति	चिकित्सालय १२५
१५४	चित्तौड़ का किला २१
ग्रामसभाहुँ १५३	चित्र—‘जोगी मारा’ गुफा के १८६;
धारापुरी २१	गुफाओं की दीवारों पर—१८३,
चंद्रगोमिन—कृत चांद व्याकरण ८५	अजंटा में—१८२
चक्रपाणिदत्त—सुश्रुत और चरक का	चित्रणकला—भारतीय, टाइम्स का
टीकाकार, चिकित्सा-सार-संग्रह	मत १८८; डेली टेलीग्राफ का
का लेखक ११६	मत १८८,—की विशेषता
चतुर्वेद पृथृदक स्वामी—ब्राह्मस्फुट	(भावप्राप्तान्य) ११०;—पर

- हैवेल का मत १६१; अजंटा की गुफाओं में—१८२; ग्रिफिथ द्वारा प्रशंसा १८७; सित्तन नवासल में—१८९
चित्रशालाएँ १९
- चीर फाइ—संबंधी शस्त्र तथा यंत्र १२०
चुनाव—सार्वजनिक १८४
चुंगी कर १८८
चैत्य १७४
चोल १३, १४
छंदःशास्त्र—के ग्रंथकार तथा ग्रंथ ८३
छंदोबद्ध लेख—इनकी प्रचुरता ८४
झूतछात—का अभाव, भिन्न भिन्न वर्णों में ८०
जंगम २४
जयदेव—कृत गीतगोचिंद ७७
जगन्नाथ ९६
जयसिंह—(सिद्धराज) १५
जलविहार—८२
जातकमाला—का अध्ययन १४५
जाति—पर हुएन्संग का मत—४७
जातिभेद—बढ़ने के कारण ४३;—का अभाव, चत्रिय वर्ण में ४६
जातिर्या—अस्पृश्यों में, चाण्डाल और मृतप ४८; शूद्रों की, पेशों के अनुसार ४७; उपसामों का जातियों में परिणत होना ४३
जादू टोना—प्रभाकरवर्धन की बीमारी में बाण का वर्णन ६१;—पर विश्वास, नाण की काढ़बरी ८१; अथवैवेद में ६१
जैन—इनकी पाठशालाएँ १३; इनकी नमस्कारविधि १३;—धर्म (देखो धर्म)
जैनमत—का प्रचार, दक्षिण में १३
जैन मदाराष्ट्री—महाराष्ट्री प्राकृत का एक भेद १३६
जैनियों—पर अत्याचार १४
जैमिनि ६३
जोगीमारा—गुफा के चित्र १८६
ज्या और उत्कम ज्या—की सारणिर्या ११७
ज्योतिष—वेद का एक अंग १०२; वेदों में—(दिन-रात होने का कारण) १०२; फलित ज्योतिष १०६, १०७; अलबेरुनी द्वारा उल्लेख १०५; चीन में प्रचार १०६; प्रोफेसर विल्सन का मत १०६; भारतीय और यूनानी ज्योतिष की समानता १०३; नक्षत्र और कालनिर्णय का ज्ञान १०२; भारतीय ज्योतिषियों का अरब में बुलाया जाना १०६; लङ्घ का लङ्घसिद्धांत १०४; बृद्धगार्ग संहिता, ज्योतिष पर ग्रंथ १०३; सुरीयपञ्चति, ज्योतिष पर ग्रंथ १०३; सूर्यसिद्धांत १०३; उस के चार भाग १०५; सिंहाचार्य ज्योतिर्विद १०३; सिंह

- हिंद, भारतीय ज्योतिष का दशकुमारचरित—दंडी कृत ८०
 अरबी अनुवाद १०५
- तचण कला—१७४, चाड़ोली के मंदिर की—, कर्नेल टाढ़ द्वारा उसकी प्रशंसा १७७; फग्युसन द्वारा प्रशंसा १७३
- तबरी—एक इतिहासलेखक १०५
- तर्कशास्त्र—पर मैक्स डंकर की सम्मति १०२
- तात्पर्यपरिशुद्धि—उदयनाचार्य कृत ८६
- तामिल भाषा—सबसे मुख्य द्रविड़ भाषा १४०; —में लिखे गये थे के नाम १४०
- तात्पर्य—रेशमी चोगा ४३
- तिरुयान संबंध २५
- तिलकमंजरी—धनपाठकृत ८०
- तीर्थकर—१०, १२, १३
- तोलकाप्यियम—तामिल का सबसे प्राचीन व्याकरण १४०
- त्यौहार—हिंदुओं में प्राधान्य ४१
- त्रयी १३३
- त्रिकांडशेष—पुरुषोत्तम देव कृत, अमरकोष का परिशिष्ट ८६
- त्रिकूर्चंक शास्त्र १२१
- त्रिकोणमिति ११७
- त्रिमूर्तिर्या २०
- दंतशंकु १२१
- दंड १५५
- दंडनीति १३३
- दशकुमारचरित—दंडी कृत ८०
 दशरात्र यज्ञ ८
- दर्शन—अध्ययनार्थ यूनानिशों का पूर्ण की यात्रा करना १०१; प्राच्य दर्शन पर श्लेषेल का मत १०१; हंटर का मत १०२; अनीश्वर-वादी ६४; बौद्ध दर्शन पर हिंदू दर्शन का प्रभाव ६; प्राच्य दर्शन का ग्रीक दर्शन पर प्रभाव १०१; उत्तर मीमांसा या वेदांत दर्शन ६५; बौद्ध—६६, ६६; जैन—६६; —के छः संप्रदाय ८७; —की उत्तरि ८७
- दशगुणोन्नर संख्याक्रम ११२
- दामोदर कृत—हनुमञ्चाटक ८२
- दार्शनिक उन्नति—का सिंहावलोकन १००
- दास प्रथा—हिंदू समाज में ४६; मनु, याज्ञवल्क्य समृद्धियों में—४६; १५ प्रकार के दासों का उल्लेख, याज्ञवल्क्य समृद्धि के टीकाकार विज्ञानेव्वर द्वारा ४६; दासों की अवस्था ६०; दासों की मुक्ति, याज्ञवल्क्य तथा नारदसमृद्धि में ६०; दास की मुक्ति का उल्लेख, मिताचरा में ६१; दासों और सेवकों में अभिन्नता ६१
- दाशक्रिया १२२
- दिक्षपालों का उल्लेख, पतंजलि के महाभाष्य में ३२

दिगंबर १२	जैनधर्म का पार्थक्य १२;
दिल्ली—मध्यकालीन न्याय का प्रवर्तक ६०	धर्मपरिषद्, बलभी की १३;
दिव्यसाक्षी—(ordeal) की प्रथा १५५	धर्मलेख, अशोक का १२;
देवदत्त नागवंशी ६	वैदिक धर्म १५;—के सिद्धांत ६,
देवविर्गणि लम्भाश्रमण १३	१७; धर्मसम्मेलन—हुएसंग
दोलोत्सव ४२	द्वारा वर्णित—५१; हिंदू धर्म १५;—के प्रधानभूत आग,
चूतगृह ४२	ईश्वर और वेद पर श्रद्धा ३५;
द्विड़—भाषाओं का साहित्य १३६;	पश्चिमीयों की ओर सहिष्णुता
औदीच्य, द्विड़ों का भेद ४४	के उदाहरण ३८;—में सहिष्णुता ३७;—के सामान्य आग
द्वापि—युद्ध के समय पहिना जाने-वाला सिथा हुआ वस्त्र—सायण ५३	३८;—का प्रभाव, बौद्ध धर्म पर ५
द्वाविड़ी भाषा ७४	धर्मोत्तर—न्यायविंदु का टीकाकार १०
द्वारसमुद्र के यात्रा १८	धातुविज्ञान—पर ग्रंथ १३३
द्वैतवाद १००	धार्मिक जीवन—में प्रायशिच्छत का महत्त्व ३४
धर्म—शब्द की व्यापकता १३१;—की शिक्षा १४६;—शास्त्र १३१; जैन धर्म १२;—का प्रचार १५;—की प्रगति १०;—का ह्रास १३, १४;—का लिपिबद्ध होना १३;—के तीन रूप ११;—के नौ तत्त्व १०;—के सिद्धांत १०; बौद्ध धर्म १५, १६, १६;—का पतन द;—में त्रुटिया द;—के भेद ५; प्रारंभिक—६;—का मध्यम पथ ४;—के सिद्धांत ४;—की विशेषता ५;—में त्रिरूप ५;—में संप्रदाय ५;	धार्मिक ल्योहार—अलबेस्नी का वर्णन ३४ धार्मिक स्थिति का—सिंहावलोकन ३७ धार्मिक—सहिष्णुता ३७;—साहित्य में परिवर्तन ३४;—साहित्य, शैवों का २५ धोती ४४ ध्वन्यालोक—गोवर्धनाचार्य कृत ८३ नकुलीष २२ नगर-सभाएँ—(सुनिसिपेलियाँ) १५२ नटसूत्र—शिलाली और कृशाश्व के १२६

नरहरितीर्थ १६		न्यायसूत्र—वारसायन कृत द६; इसके
नलचंपू—त्रिविक्रमभट्ट कृत द१		भाष्य का टीकाकार, उद्योतकर
नलोदय ७६		द६
नागरसंवेस्त्र—बोद्ध पद्मश्री कृत	न्यूटन १०५, १६७	
(कामशास्त्र पर) १२८		पंचतंत्र—उसके अनुवाद ७६
नागरी वर्णमाला २७		पंचमहायज्ञ का अधिकार—शूद्रों को
नाव्यनियमों के ग्रंथ १२६		(पातंजल महाभाष्य) ४६
नाव्यशास्त्र—भरत का १२६		पंच महाव्रत ११
नाटक—और उनके कर्ताओं की		पंचरात्र संहिता—भागवत संप्रदाय का
नामावली द३		मुख्य ग्रंथ १७
नाटकगृह ५१		पंच स्कंद्रों का संघ ४
नालदियार—तामिल का प्राचीन-		पंचसायक—ज्योतिरीश्वर कृत (काम-
तम ग्रंथ १४०		शास्त्र पर) १२८
निधंडु १२६		पंचायत का प्रभाव १५५
निवारण ४		पंचायतन—पाँच मुख्य उपास्य देवता
नीतिसार—कामंदक कृत १३०		३२
नृत्य—१२६, स्त्रियों को विशेष शिक्षा		पंचायतन पूजा—परस्पर एकता का
१६३		परिणाम ३७
नैयायिक—सुबंधु द्वारा उल्लेख द६		पतंजलि १६
नौशास्त्र—नौ निर्माण पर १३४		पद्मानाभतीर्थ १६
न्याय ६६, १००; प्राचीन न्याय		पदार्थवर्मसंग्रह—प्रशस्तपाद कृत
६०; मध्यकालीन न्याय ६०		(वैशेषिक संप्रदाय का प्रामा-
न्यायबिंदु—का टीकाकास, धर्मोत्तर		णिक ग्रंथ ६१;—का व्याल्याता,
६०; धर्मकीर्ति कृत—६०; नवीन		श्रीधर ६१
न्यायसंप्रदाय का अभ्युदय ६०		पर्दा विषयक घटना—हुएन्सेंग ६६
न्यायद्वारतारक शास्त्र—नागार्जुन कृत		पर्दा—का अभाव ६५;—अस्तित्व
१४५		नाटकों में नहीं ६६; प्रचार,
न्याय-व्यवस्था—याज्ञवल्क्य वर्णित		मुसलमानों के बाद ६६; गज्यश्री
१५२		का हुएन्सेंग से मिलना ६६
न्यायदर्शन द८		परमाणुवाद—वैशेषिक का ६१

- पशुपतियों—का शाक ५२**
- पशुचिकित्सा—१२२ (देखो चिकित्सा)**
—पर लिखे ग्रंथों की नामावली १२२;—संबंधी संस्कृत ग्रंथों का फारसी में अनुवाद १२३
- पशुविज्ञान १२३**
- पशुहिंसा की पुष्टि, कुमारिल द्वारा ३५**
- पांड्य १३**
- पाणिनि १६;**—द्वारा नैयायिक शब्द की व्युत्पत्ति ८७;—में आदर भाव, महाभाष्यकार का ७४;
—द्वारा संस्कृत का नियमों में जकड़ा जाना ७४;—के व्याकरण पर वार्तिक तथा महाभाष्य ८५;—द्वारा शिल्पाली और कृशा-शब्द के नटसूत्रों का उल्लेख ८;
पारा—अलबेर्नी का उल्लेख ११६
पाश्वाभ्युदय काव्य—में मेघदूत का समाविष्ट होना ७७; जिनसेन कृत ७७
- पिरोह—दर्शन अध्ययनार्थ भारत ग्राया १०३**
- पुनर्जन्म ८**
- पुनर्विवाह—पर पराशर का मत ६८;**
—पर अलबेर्नी का मत ६८
- पुराण—अठारह २६;**—का प्रचार ३३
- पुष्यमित्र द**
- पूजा—गणपति की २६, गणेश की २८; गणेश श्रविका की २८;**
- त्रिदेव की २६; शक्ति की २७;**
सूर्य की २६; सूर्यमूर्तियों की मणों द्वारा, ३०; स्कंद की हेमाद्रि के व्रतखंड में २६; स्कंद या कार्तिकेय की २६
- पूर्णमीमांसा—६३, १००;**—की व्यु-
त्पत्ति ६५
- पृथ्वी के गोल होने का प्रतिपादन १०५**
- पेशस्—नाचने के समय वस्त्र विशेष ५३**
- पैदागोरस—दर्शनाध्ययनार्थ भारत आया १०१**
- प्रजातंत्र राज्य (गणराज्य) १५१**
- प्रद्युम्न—ज्योतिर्विद १०३**
- प्रबोधचंद्रोदय—कृष्ण मिश्र का ८२**
- प्रमाण—चार प्रकार के ८**
- प्रमेय—संख्या में बारह ८**
- प्रस्थानत्रयी—(वेदांत सूत्र, उपनिषद, गीता) ६५**
- प्राकृत—बोल चाल की भाषा ७४;**
—के कोप १३६;—के व्याकरण १३८;—के भेद १३८;
पुरानी—१३४; प्रचलित—
श्रोक की धर्माज्ञाएँ १३४;—
लेखकों के नाम; कर्पूरमंजरी में १३६;—साहित्य १३४
- पिलनी—भारतीय काल पर १६६;**
भारत के रक्तों पर १७३
- फलीट २४**
- बर्जेश्वर—नौशेरवाँ का समकालीन,**

- भारत में विज्ञान सीखने आया ६६
१२६
- बलि—मनुष्य और पशु की २२
बसव २३
- बसव पुराण २४, १४१
- ब्रह्म ६१
- ब्राह्मण ६, २३;—का पुत्र पुलिनभट्ट ८०;—कृत कादंबरी और हर्ष-चरित ८०; शूद्र ली से उपक्ष ब्राह्मण के पुत्र का उल्लेख ४६; हर्ष के जन्म पर कदियों के छोड़ जाने का उल्लेख १५५
- बीजगणित ११५; का जोरी का उल्लेख ११५; के अरब में प्रचारक, मूसा और याकूब ११६
- बुद्ध—विष्णु का नवां अवतार—७; अतीत—६; भावी—६; वर्तमान —६
- बृहत्कथा—गुणाढ्य कृत ७६, १३६; उसके संस्कृत अनुवाद ७६, १३६, १३७, १३८
- बृहत् कथामंतरी—हेमेंद्र कृत ७६
- बृहत् कथा श्लोकसंग्रह ७६
- बृहद्रथ—मौर्यवंश का अंतिम राजा ८
- बृहस्पति—चारवाक संप्रदाय के सूत्रों का कर्ता ६८
- बोधिसत्त्व ६
- बौद्ध ६८;—पर अत्याचार ८;—धर्म (देखो धर्म);—भिक्षुओं में मतभेद ८;—सिद्धांतों का खंडन ७
- ब्रह्मगुप्त—ज्योतिष का विद्वान्, उसके ग्रंथ १०४
- ब्रह्मदेव का करणप्रकाश १०४
- ब्राह्मण—अद्वैत द्वारा उल्लेख ४०; अल्मसउद्दी का उल्लेख ४१;—के कर्तव्य ४१,—का समाज में स्थान ४०;—सभाएँ १५३; उपनामों का प्रयोग ४२; गोत्र तथा उपनामों के साथ उल्लेख ४२;—के भेद, शास्त्र और गोत्र के अनुसार ४३; पञ्चरांड और पञ्चद्विङ्ग ४४;—के आत्म मरणोपाय के उदाहरण ६३;—में व्याज लहसुन वर्ज्य ४८;—में मांस-भक्षण ४८;—का अन्य वर्णों के हाथ का बना भोजन खाना ५०
- भक्तिमार्ग ६, १६, १८
- भक्ति—राम की—१८; वासुदेव की —१६; शिव की—२०
- भटनारायण—कृत वेणीसंहार ८२
- भट्टिकाव्य ७६
- भटोत्पल—वराहमिहिर और उसके पुत्र के ग्रंथों का टीकाकार १०७
- भगवदर्गीता १६
- भद्रंत ६
- भर्तृहरि—के ग्रंथ ८८
- भरत—कृत नाट्यशास्त्र ८१
- भवननिर्माण शास्त्र १३३
- भवभूति २३;—के ग्रंथ ८१;—के

- मालती माधव में बलिदान का मंदिर—के स्थानों का उल्लेख १७७;
उल्लेख ६२
भविष्य पुराण—में सर्वों के जन्म आर्य तथा द्विषण शैली के—
आदि का वर्णन १२३ १७५; चालुक्य शैली के—१७६;
भविस्यत्त कहा—धनपाल कृत महमूद गजनवी का उल्लेख
१३७ १७८;—की प्रशंसा १७८;
भस्त्री—चमड़े की, वैदिक साहित्य में राजशेष्वर का शिव मंदिर २५,
२३ ३१, १७३
भगवत् संप्रदाय—का मुख्य ग्रंथ पञ्च- मग ब्राह्मण—का शाकदीप से आना
रात्र संहिता १७ ३०; अलबेरुनी का उल्लेख ३१
भास्कराचार्य १०३, १०४, ११७, मठों—की स्थापना ३३;—द्वारा
११६ अद्वैतवाद का प्रचार ६७
भास ७५ मंदिरापान—पर अल मसजदी ८८
भूगोल ११८ मदुरा १३, १४
भूतभाषा—के प्रचार संवंध में राज- मध्व २०
शेष्वर का मत १३६ मध्वाचार्य १६;—का जैसिनीय न्याय-
भूभ्रमण—के सिद्धांत का विरोध माला विस्तार ६४, ६५;—का
१०४ तत्त्वसंख्यान ६८;—का द्वैतवाद
भृगु मुनि २२ ६८;—के द्वैतप्रतिपादक भाष्य
भोज कृत—चंपूरामायण ८१ ६८;—के शिष्य १६
भोज—उपवर्णों में ५२ मनुस्मृति—तथा उस पर टीकाएँ
भोजन ४०,—पर इस्तिंग का मत १३१
४७;—अल इदरिसी का मत ४२ १३१
४७;—हुएन्स्तिंग का मत ४७ मनोविज्ञान—पर बेसेंट की सम्मति
भौतिक उच्चति ५० १०२
मंख—का श्रीकंठचरित १५२ मम्मटाचार्य—कृत काव्यप्रकाश ८४
मंडनमिश्र—की विदुषी पत्नी ६४ मलयालम्—का साहित्य १४१
मंत्री १५२ महमूद गजनवी १७३
मंत्रिपरिषद का शासन में अधिकार महानिर्वाण ५
१५२ महाभारत—का तेलगु में अनुवाद
१४१ महाभाष्य—का अध्ययन १४५

- महायान ६;—पर प्रभाव, भगवत्
गीता का ६
महाराष्ट्री प्राकृत—में लिखे ग्रंथ
१३६; प्राकृत का एक भेद १३६
महावीर ६, १०, १२
महासुत सोम जातक १४४
मांसभन्नण—पर मसउदी २७;—का
स्मृति तथा ब्राह्मणों में उल्लेख ५७
मागधी—प्राकृत का भेद १३५
मातृका—सात शक्तियाँ २७
माधव २३
माधवतीर्थ १६
मालतीमाधव २२
माया ६६;—का वर्णन, गौड़पाद की
कारिकाओं में ६५;—वाद के
सिद्धांत का प्रभाव ६८; वेदांत
सूत्रों में अभाव ६५
मार्कों पैलो ६४
मिताच्छरा—विज्ञानेश्वर कृत १३२;
—में दासों की मुक्ति का उल्लेख
६१
मीमांसा—न्याय का समानार्थक शब्द
६३,—शास्त्र ६३
मीमांसकों—के दो भेद ६४
मुकदमा—अलबेरनी का उल्लेख
१६२
मुहम्मद कासिम ३८
मूर्तियाँ १७६; उनकी कल्पना का
प्रवाह ३२; अष्ट दिक्पाठों की—
३२; गणपति की—२८, २६;
- बुद्ध की—६, २०; ब्रह्मा की—
२५, २६; लकुजीशा की—२२;
विष्णु की—२०. शिव की—
२०, २१; शिव की त्रिमूर्ति—
२१; सूर्य की—२०, ३१; मूर्ति—
पूजा १६; संकरण और वासु-
देव की—१६
- मुगपचि शास्त्र—हंसदेव लिखित
१२४ —
- मेगास्थनीज १६, १६५
मेले १६७
मोक्ष २२;—की प्राप्ति १६
यंत्र—इनकी संख्या पर सुश्रुत और
वारभट का मत १२१; वर्णन
१२१
- यांत्रिक उच्चति १८२
याज्ञवल्क्य स्मृति १३१, १४४
योग ६३, १००
योगदर्शन ६२
योगसारसंग्रह—विज्ञानभिन्न का ६३
योगमूत्र—पर व्यासभाष्य, वाचस्पति
मिश्र की टीका ६३;—पर टीका
राजा भोज की ६३
योग शास्त्र—में तत्र और काव्यशूद्ध
का विस्तार ६३
- रत्नपरीचा—पर ग्रंथ १३३
रतिरहस्य—कोका पंडित का १२८
- राघवपांडवीय—कविराज कृत ७७
राज्यवर्धन ६
राज्यश्री—की शिद्धा का उल्लेख, वाच

- | | |
|------------------------------------|---|
| द्वारा ५४;—को लिति कला की | लिंगपुराण २२ |
| शिक्षा ६५ | लिंगायत—(वीर शैव) २४;—का |
| राजनीति शास्त्र १३०; नीतिवाक्यामृत | ब्रवर्तक, एकांत २४ |
| —सोमदेव सूरिकृत १३०; | लीलावती—भास्कराचार्य कृत ६५ |
| याहित्य के ग्रंथों में—१३०; | वनस्पतिशास्त्र—के कोष ११६ |
| महाभारत का शास्त्रिपर्व १३० | ब्रह्मामहिर—की पंचसिद्धांतिका |
| राजनीतिक स्थिति—सिन्धियों की १५३ | १०३, १०६, १०७ |
| राजमुद्राएँ १५७ | वरण—हुएन्संग का उल्लेख ४०; |
| राजमृगांक (करण)—भोजदेव कृत | अट्टब्रेसूनी का उल्लेख ४१, |
| १०४ | ४२,४८; चारों वरणों का खाना- |
| राजराज चोल १४ | पीना ५० |
| राजशेखर—कृत नाटक २८,८२ | वर्णाश्रिम व्यवस्था—का विरोध ४०, |
| राजसिंह—पल्लव शासक २४ | ४६ |
| राजसूय यज्ञ द | वरुण—ब्रह्मगुप्त के खंडखाद्य का |
| राजा—के कर्तव्य १५१ | टीकाकार १०४ |
| राम-भक्ति १८ | वर्सनोत्सव—रत्नावली में ५१ |
| रामानुज १४, १८, १६, ६६, | वसुगुप्त २३ |
| ६७, | वस्त्र—हुएन्संग का वर्णन ५४; बाण |
| हुग्विश्वय—शा माधवनिदान | का वर्णन ५४ |
| ११६ | वाकाटक वंशी द |
| हृदशक्तियाँ २७ | वामभट्ट—(तेरह प्रकार के शास्त्र कर्म
मानता है) १२१;—कृत अष्टांग |
| रेखागणित ११६, ११७, | संग्रह ११६;—कृत अष्टांगहृदय-
संहिता ११६ |
| रोमक सिद्धांत १०३ | वाड मय ७३ |
| लकुटीश २२;—के शिष्य २२ | वाचस्पति—का चापीय घनचूत्र |
| लल्लि शिद्धांत—लल्लि का १०४ | निकालने का साधन ११८ |
| लिति कला—विपयक रत्नावली में | वाचस्पति मिश्र—उद्योतकर का टीका- |
| उल्लेख ६५ | कार ८६ |
| लाटधायन—कृष्णियों और सरीसूखों | वाद्यों—की वैज्ञानिकता १४२.— |
| का विद्वान् १२४ | |
| लाटाचार्य—ज्योतिर्विद् १०३ | |

- | | |
|--|--|
| के नाम, वेद में १६१ | वेद ३३ |
| वार्ता—(अर्थशास्त्र) १३२;—पर ग्रंथ—१३२, १३३ | वेदांत ६६, ६७, ६८;—सूत्र व्यास के ६५;—पर भागुरी कृत भाष्य ६५;—का साम्य, जेनेफिनस और परमैनिडस के सिद्धांतों से १०१ |
| वासवदत्ता—सुवंधु कृत ८० | |
| वास्तुविद्या १८१ | |
| विजयनंदी—(ज्योतिर्विंद) १०३ | |
| विजल—कलचुरि राजा २४ | वैजयंती कोष—यादवभट्ट कृत ८७ |
| विनाशदिल्य—गणित का पंडित ४४ | वैताक्य पवैत ११ |
| विमान—का वर्णन १०३ | वैताल-रंचविंशति ७६ |
| विवाह—अनुलोम ४६; उदाहरण ४६;—की परिमिति, उपजातियों में ३८, ४८, ५०; प्रतिलोम ४६;—के अवसर पर कन्या की आयु ६७;—वयस के संबंध में कुछ उदाहरण ६७; बहुविवाह की प्रथा ६७; बालविवाह ६७; विवाह-विवाह ६७, ६८ | वैदिक धर्म ३
वैदिशी शातकर्णी ८
अलमनसूर—वैद्यक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद करनेवाला १२६
वैद्यक—का विकास, बौद्धकाल में ११८ |
| विशाखदत्त—कृत मुद्राराजस ८२ | वैशाली १० |
| विशिष्टाद्वैत १८, २५ | वैशेषिक—नाम की व्युत्पत्ति ६१;
—दर्शन, कणाद कृत ६०, ६६ |
| विल्लु—के अवतार १७ | वैश्यों—के कार्य ४६; पर हुएन्सेग ४६;—का कृषिकार्य ४६ |
| विष्णुवर्धन १४, १८ | वैश्यारपेस्मई—व्यापार विषयक ग्रंथ १२४ |
| विष्वविद्यालय १४२; नड या विद्यालयों की संख्या १४२; नक्षिला का—१४४; नालंद का—१४२, १४३ | व्यवसाय—ठोहे का १६८, १६९;
भारतवर्ष में १६७; वस्त्र का— १६८ |
| विहार १७४ | |
| विज्ञानसंक्षेप ४ | |
| विज्ञानेश्वर—१५ प्रकार के दासों का उल्लेख ८६ | व्याकरण—के ग्रंथों के नाम ८६;
का महत्त्व ८६; चाँद व्याकरण—
चंद्रगोमिन कृत ८६;—के ग्रंथों का वर्णन, इन्सिंग द्वारा १४५; |
| वृद्धगर्गसंहिता—ज्योतिष पर ग्रंथ १०३, १०६ | —का अध्ययन १४५ |

(२१०)

व्यापार—जलमार्ग से १६५, १६६;
स्थल मार्ग से १६६, १६७

व्यापारिक नगर १६५

व्यापारी सभाएँ १२३

व्यापार—की रचा १५६;—संबंधी

ग्रंथ वैश्यारपेरुमई १३४

व्रत रखना—अलब्रेहनी का उल्लेख

३४

शंकर—७, १८, १९, २३, २५, ३५,

३६, ३७, ६५, ६६, ६८

शंकरदिग्विजय ७, २३

शबरस्वामी—का भाष्य, जैमिनि के
सूत्रों पर ६४

शरीर विद्या ११६

शाराव पीना—वातस्थायन के काम-
सूत्रों में ८८; सुलेमान का
उल्लेख ८८

शल्यविद्या—सुश्रुत में १२०; महा-
भारत में उल्लेख १२०, विनय-
पिटक के महावग्ग में १२०;
भोजप्रबन्ध में १२०;—की प्रशंसा
१२७

शस्त्र १२०, १२१; एनीपदशस्त्र १२२

शातिपर्व—(महाभारत का), राज-
नीति का उल्कष ग्रंथ १३०

शाकटायन—एक (जैन) वैयाकरण
८५

शाक्तों—के भेद—कौलिक और सम-
यन २७; कालामुख (शक्ति
पूजा का एक संप्रदाय) २७;

मैत्रीचक्र (शाक्तों का एक मंत-
व्य) २७

शाक्वा—कलित ज्येतिष से संबंध
रखनेवाला एक भाग १०६

शामूल—जनी कुरता ४३

शाङ्क्षधरसंहिता—शाङ्क्षधर कृत ११६

शास्त्रार्थ की प्रथा १४६

शासन कार्य—हुएन्टसंग का वर्णन
१५१; शासन प्रबंध १५६; शासन-

पद्धति १५१; प्राचीन तामिल की
शासन पद्धति में परिवर्तन १६१

शिद्धण विधि—हुएन्टसंग का वर्णन
१५६

शिक्षा १४२

शिक्षा-क्रम १४५; हुएन्टसंग का वर्णन
१५६; इस्तिंग का वर्णन १४४;

शिकार ४२

शिल्पकाल की प्रशंसा १०१, १८१

शिलालेख—नगरी का १६; शेरगढ़
का ६

शिव—की उपासना २०

शिवदृष्टि २४

शिवलिंग २।

शिशुपालवध—माघ कृत ७६

शुक्सस्ति ७६

शुद्रक—कृत मृच्छकटिक ८।

शृंगार—बालों का ४५

श्वेतांबर १२

शैव मत १४

(२११)

- शैरसेनी—तथा उसमें लिखे ग्रंथ
१४५
- श्रीपति—लिखित रत्नमाला और
जातकपद्धति (फलित ज्योतिष
पर) १०७;—लिखित सिद्धांत-
शेखर और धर्मकेविद् (करण)
१०४
- संगीत कला—१६१, १६२, १६३;
बहराम गोर द्वारा हिंदुस्तानी
गवैयों का इरान में बुलवाया
जाना १६३;—का धुरंधर मर्मज्ञ,
अश्वघोष १६३;—का भक्तिमार्ग
के साथ संबंध १६३
- संगीत लिपि—भारत की १६३, १६४;
गाइडो डी अरेजो—१६४
- संगीत शास्त्र—और उसके अंग १२८
संगीतरत्नाकर—में संगीत के विद्वानों
का उल्लेख १२८, १२९
- संघ—देखो गण
- संघाराम—हुएन्टसंग का उल्लेख
१४२; एक प्रकार का शिक्षणा-
लय १४२
- संप्रदायों—में एकता का भाव ३७
- संप्रदाय—जैन धर्म के—१२; पाण्डि-
पत—२२, २३; भक्ति—१६;
भागवत—१६; मध्व—१६; लकु-
लीश—२२; लिंगायत—२५;
बलभ—२०; विशिष्टाद्वैत—१६;
वैष्णव—१६; शैव—२२, २३;
शैव संप्रदाय की शास्त्रा, प्रत्यभिज्ञा
- संप्रदाय २४; सात्वत (यादव)
—१६;
- संस्कार—का वर्णन, मिताज्ञरा में
३३
- संस्कृत—साहित्य की भाषा ७३;—
साहित्य का विकास ७४;—की
उन्नति का ठीक अनुभव, ७५;—
के विकास की दिशा ८६;—की
चरम उन्नति ८४
- सती—के उदाहरण ६८; अलबेस्नी
का मत ६६
- सत्कार्यवाद—(परिणामवाद) ८६
- समरागण सूत्रधार—(वास्तुविद्या पर
ग्रंथ) १८१
- समुद्रगुप्त ८
- सरस्वती-कंठाभरण—भोजनिर्मित पाठ-
शाला १३६
- सर्पविद्या १२२
- सर्वतात—पराशरी का पुत्र ८, १८०
- सारांश—६१, ६२, ६३, ६४, १००;
निरीश्वर, ईश्वरकृष्ण का ६२;
सेश्वर, उपनिषदों में ६२;—
कारिका, ईश्वर कृष्ण की ६२;
—का प्रभाव, नास्टिक मत पर
१०१;—का प्रभाव, ग्रीक दर्शन
पर १०१
- सांख्यतत्त्वकौमुदी—वाचस्पति मिथ
की ६२
- सार्वजनिक कार्य १५६
- साहित्य—का अर्थ ७३;—की चर्चा

- से विनोद ५६
 सिकंदर ६४
 सिंके १७१
 सिंचार्द १६४
 सिद्धार्थ १०
 सिराही राज्य २।
- सिंहासनद्वात्रिंशतिका ७६
 स्त्रियों—का आदर, प्राचीन काल में ६४; मनुस्मृति में ६६;—की स्थिति ६४;—की दिनचर्या ६६;—की शिक्षा और उसके उदाहरण ६४, ६५;—के वस्त्र—५३, ५४;—का मर्दीं के साथ घूमना ६६;
- स्त्रियाँ—दरबार में ६६; युद्ध में—६६
 सीने की कला—पर हुएन्सेंग ५२;—का प्राचीनत्व ५३
 सुई—(वाक्षण ग्रंथों में) ५३
 सुकरात १०१
 सुभाषित-संग्रह ७८
 सुभाषित-रत्नसंदोह—अमितगति का ७६
 सुश्रुतसंहिता ११६
 सुभाषितावली—वल्लभदेव की ७८
 सोमदेव—का यशस्तित्तक (चंपू) ८।
 सोमेश्वर—का सुरथोत्सव ६२
 सूर्य—के पर्याय ३१;—की उपायना २६;—का वर्णन २६, ३०;—की कथा ३०
 सूद—राजतरंगिणी में वर्णित हंजी-बियर १६३
- सेना—के अफसरों के नाम १६०; भारतीय जलसेना का उल्लेख १५६, १६०; हर्ष की सेना का वर्णन १५६; सैनिक व्यवस्था १५६; सैनिक व्यवस्था में परिवर्तन १६२
- सोडूडल—कृत उदयसुंदरी कथा ४८
 सोमानंद २४
 सोमेश्वर शतक—कनड़ी में १४१
 स्कंद—रामायण में २६; महाभाष्य में २६; कनिष्ठ के सिक्कों पर २६
 स्तंभ १७८; धार का जयस्तंभ १६६; आग्रा का लोह स्तंभ १६८
 स्तूप १७४
 स्थितिशास्त्र ११८
 स्पंदकारिका २४
 स्पंदशास्त्र २३
 स्मृतिकारों—के नाम १३२
 स्मृतिकल्पतरु—लक्ष्मीवर का १३२
 स्याद्वाद—जैन दर्शन का मुख्य सिद्धांत ६६
 स्वच्छता—हिंदुओं की १२६
 हंटर १०५
 हनुमन्नाटक—दामोदर कृत ८२
 हर्ष—६;—का चुनाव राज्यपद के लिये १५२
 हर्षचरित २३
 हर्षवर्धन ४४;—कृत नाटक ८।
 हरकेलि नाटक—विग्रहराज (चतुर्थ) का ४५

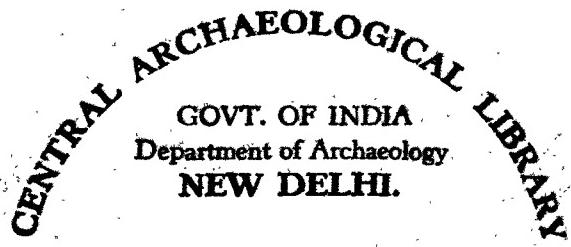
(२१३)

हरिहर २६	नाम १२५
हरिहर पितामह २६	हेमचंद्र १४, ६५;—के ग्रंथ १५.
हारावली—पुरुषोत्तमदेव कृत, कोषदृ	८५, ६०, १३० १३८
हारूरशीद—भारतीय वैद्यों को अरव	हेरिकिलस की पूजा १६
तुलबाया १२६	होयसल शाजा १४
हिएरेटिक—मिश्र का सुधारा हुआ	होरा—रुतित ज्योतिष से संबंध रखने-
अंक कम १११	वाला एक भाग १०६
हिएरेटिफिक—मिश्र का सबसे पुराना	होरा षट्पंचाशिका—गृथुयशा लिखित
अंक-कम ११०	१०७
हुएन्सेना—३, १६६;—का यात्रा विव-	होली—का उत्सव २१
रण ६;—द्वारा पुण्यशालाओं के ज्ञानयोग १८	



Cell
21.8.26

"A book that is shut is but a block."



Please help us to keep the book
clean and moving.

S. S., 14B, N. DELHI.